तृतीय अध्याय : समकालीन हिंदी स्त्री-कविता के विविध परिदृश्य

तृतीय अध्याय : समकालीन हिंदी स्त्री-कविता के विविध परिदृश्य

i. समकालीन व समकालीनता के मायने :

हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा में समकालीन या समकालीनता साहित्य के क्रमबद्ध विकास को समझने में सहायक सिद्ध हुई है। विगत तीन-चार दशकों में इसकी चर्चा ने साहित्यालोचन की विभिन्न पद्धतियों को एक अलग कैनन दिया है। समकालीन शब्द के विश्लेषण हेतु प्रायः परंपरा, आधुनिकता, तात्कालिकता, समसामयिकता, संस्कृति-प्रतिसंस्कृति एवं काल-प्रवाह आदि शब्दों एवं उनके बीच अंतर्संबंधों की चर्चा होती रही है। साहित्य अथवा कला अपने काल से सदैव ही संपृक्त रही है और उस संपृक्ति के बावजूद अपने काल का अतिक्रमण करती है। कविता अथवा कोई भी कृति इसी अर्थ में कालजीवी कहलाती है। अतः समकालीन कवि या कथाकार अपने समय में बद्ध रहकर भी समय से आगे की यात्रा करते हैं। कथा आलोचक मधुरेश समकालीन व समकालीनता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं "समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए, उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना। समकालीन लेखक की पहचान यही हो सकती है कि अपने समय के सवालों के प्रति वह किस तरह प्रतिक्रिया करता है और अपने लेखन में उन सवालों के लिए जो जगह निर्धारित करता है, उन सवालों के प्रति वह कितना गंभीर है, कहीं न कहीं इन सबसे ही उसकी समकालीनता सुनिश्चित होती है।"[1] अर्थात समकालीन होना दोहरी-तिहरी चुनौतियों के दबाव से उबरना है – पहला अपने समय की नब्ज़ को पकड़ना, दूसरा स्वयं को उक्त काल में प्रमाणित करना और तीसरा इन दोनों के रचनात्मक दबावों-तनावों को अपनी सर्जना में इस तरह उतारना कि वह समय सापेक्ष होने साथ ही काल सापेक्ष भी हो और भविष्य का दिशाबोध भी तय कर रहा हो।

हिंदी साहित्य ज्ञानकोश समकालीन व समकालीनता को परिभाषित करते हुए उसका संबंध परंपरा एवं आधुनिकता से जोड़ता है "समकालीनता का अर्थ अपने काल की समस्याओं, चुनौतियों और संघर्षों के अर्थ में छिपा है। उन्हें समझते, समझाते हुए और उनसे रिश्ता बनाते हुए ही समकालीन होना संभव है। ... ... परंपरा और समकालीनता के अंतर्संबंधों को लेकर वैसे ही प्रश्न उठे, जिस तरह परंपरा और आधुनिकता के संबंध को लेकर उठे थे। निश्चय ही परंपरा और समकालीनता को जोड़कर ही जीवन की समझ बनती है और साहित्य की भी। समकालीनता से नाता रखे बिना परंपरा को नहीं समझा जा सकता, जिस तरह परंपरा से नाता रखे बिना समकालीन की समझ हवाई है। परंपरा हर काल में एक नया अर्थ बनती है, उसी तरह समकालीनता भी बदलती है।"[2] परंपरा और समकालीनता की गतिशीलता ही सामाजिक परिवर्तन एवं जनचेतना को समझने में मदद करती है। कवि या कथाकार द्रष्टा की भांति उसे आत्मसात करता है और अपनी कला चेतना से मूर्त रूप देता है। आधुनिक क्रांति की विकास-प्रक्रिया में समकालीनता एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है जो सदैव जनोन्मुखी अथवा जनपक्षधरता लिए होती है। समकालीन हिंदी कविता का वस्तु-विन्यास इन व्यापक संदर्भों को समेटता भी है और उसपर अपनी पक्षधरता की मुहर भी लगाता है। समकालीन हिंदी कविता की यह ताकत ही है जो इसे कभी महाकवि निराला से जोड़ती है तो कभी मुक्तिबोध जैसे कवि को इसका प्रस्तोता मानती है 'इधर समकालीन कविता का उत्स निराला से माना गया है जिसके पीछे मात्र महाकवि का व्यक्ति-वैभव या उनका विराट व्यक्तित्व नहीं है। उनकी कविता भारतीय समाज का एक ऐसा नक्शा प्रस्तुत करती है जो बहिरंगतः बदल रहा है और अंतरंगतः पतनशील रहा। इस परोक्ष अंतर्विरोध को सही ढंग से समझाने वाले कवि के रूप में निराला समकालीन कविता के संदर्भ में प्रमुख हो उठते हैं'[3]।

समकालीन होने की पहली शर्त तार्किक, धैर्यशील और आधुनिक होना है। अपने समय की विकरालता, विरोध-प्रतिरोध, आक्रोश और तिरस्कार भाव को सम्यक पहचान देना है।

समकालीन हिंदी कविता अपने समय की चुनौतियों के प्रति जितनी सचेतन दिखती है, उतनी ही वह भविष्य के प्रति भी आशान्वित है। सातवें-आठवें दशक से हिंदी कविता ने जो रचनात्मक मोड़ लिए वह नौवें दशक तक आते-आते और भी प्रतिगामी हो गए। औद्योगिक विकास की छद्म उदारवादी नीतियाँ, उपभोक्तावादी संस्कृति, सूचनाक्रांति का विस्फोट आदि ने कविता के मूड्स और नैरेटिव को पूरी तरह बदल दिया। समकालीन कवि अपने स्वकाल, समकाल और समकालीनता के प्रति अधिक मुखर हुए और उन्होंने हिंदी कविता के वैविध्य को और भी व्यापक व सूक्ष्म विषय-संदर्भों से जोड़ा।

समकालीन या समकालीनता समाज की विविधता एवं बहुलतावाद को भिन्न-भिन्न स्तरों पर उद्घाटित करती है। कविता हो या कथा साहित्य एकरेखीयता या केन्द्रीकरण के स्थान पर स्थानीयता और लोकधर्मिता/वैयक्तिकता को स्थान मिला। समकालीन कवि और कथाकारों ने पूर्व-निश्चित मानव केन्द्रित अवधारणाओं जैसे – राष्ट्रवाद, अंधराष्ट्रवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद, सामंतवाद, पितृसत्ता, विस्थापन, शहरीकरण, बाजारवाद, वंशवाद, जातिवाद आदि सभी को प्रश्नांकित किया और उन प्रत्ययों पर नए सिरे से विचार किया। समकालीन हिंदी कविता इन सभी अतिवादों पर समग्रता से विचार करती है। प्रत्युतः समकालीन या समकालीनता कविता के संदर्भ में व्यक्तित्व व वस्तुस्थितियों के समग्र अभिव्यक्ति और सतत विकासमान विश्लेषण की क्षमता रखती है। अर्थात समकालीन कविता कालबोध एवं युगबोध की अत्यान्तिक परिणति है। अब प्रश्न यह भी उठता है कि समकालीन हिंदी कविता की पहचान कैसे हो? या समकालीनता के लक्षण क्या-क्या हैं? इसका सीधा-सीधा कोई उत्तर नहीं है। जब हम समकालीन हिंदी कविता की मीमांसा करने बैठते हैं तो उसके सैकड़ों स्वभाव एवं करवटें हमें किसी एक निश्चित स्थान पर नहीं टिकने देती हैं। 'समकालीन हिंदी कविता के इस परिदृश्य की एक प्रमुख विशिष्टता वह है कि इसमें कम-से-कम तीन या चार पीढ़ियों के महत्त्वपूर्ण कवियों की उपस्थिति है जो भारतीयता और आधुनिकता की संश्लिष्ट

चेतना का प्रमाण भी देती है और समकालीनता को नितांत समसामयिकता के आग्रह से भिन्न व्यापक अर्थ भी। 'समकालीन' शब्द में एक निश्चित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने की क्षमता भी है। 'समकालीन कविता' कहते ही हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कविता का चित्र सामने आ जाता है। समकालीन कविता चाहे प्रेम की हो या राजनीतिक स्थिति या मानवीय संकट की –इतना निश्चित है कि एक ख़ास समय की संवेदना इसके चित्रण के ढंग को ही नहीं, अनुभव के रूप अथवा प्रकृति को भी प्रभावित करती है'[4]। कवि-आलोचक-समीक्षक परमानंद श्रीवास्तव का उपरोक्त कथन समकालीन हिंदी कविता की पहचान की एक महीन रेखा भर है। समकालीन हिंदी कविता में आधुनिकता, भारतीयता, परंपरा, ऐतिहासिकता और मानवीय संकट आदि का स्वरूप स्थिर न होकर गतिमान है। स्वतंत्रता के पश्चात जनतंत्र व राजनैतिक स्थितियों ने भारतीयता को सीमित अर्थ में प्रकट किया। स्वभावतः कवियों के लिए मानवता भारतीयता से बड़ी चीज़ बनी।

समकालीन होना और समकालीनता की पहचान करना मुश्किल जरूर है पर कविता में मौजूद जीवन-दृष्टि इसे सहज बनाती हुई एक पुल का निर्माण करती है। जीवन में नवीनता, परिवर्तनशीलता और पक्षधरता को बयां करती समकालीन हिंदी कविता स्वतंत्रता के स्वभाव को बार-बार उद्घाटित करती है।

समकालीनता और स्त्री-कविता :

समकालीन स्त्री-कविता अपनी वैविध्यता, बहुकेन्द्रीयता और उदारमना दृष्टि के कारण ही हिंदी कविता की परंपरा में एक नयी पहचान बनाती है। आत्मान्वेषण और अपने स्व को विस्तृत आकार देती हुई स्त्री-कवियों ने परिवार, समाज-राष्ट्र और विश्व के विभिन्न प्रारूपों पर विचार प्रकट किए। अपने समय की चुनौतियों से टकराने का संवादधर्मी-प्रजातांत्रिक मॉडल स्त्री-कविता की समकालीनता की मौलिक पहचान है। भाषा, भाव एवं अवबोध के स्तर पर भी

समकालीन स्त्री-कविता का स्थापत्य भिन्न है। समाज तथा व्यक्ति के मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाई का विवरण स्त्री-कविता जिस तरह देती है, उसमें विद्रोह और करुणा का सम्मिश्रण है। 'राजनीतिक', 'घरेलू', 'आपबीती', 'जगबीती', 'विस्थापन', 'गंवई', 'शास्त्रीय', 'लौकिक', 'इतिहास', 'मिथक', 'घर', 'प्रेम', 'पर्यावरण', 'मृत्यु', 'यौन-हिंसा', 'भ्रूण-हत्या', 'अतीत', वर्तमान', 'भविष्य' तथा वर्ण-वर्ग-नस्लगत पीड़ाओं की दुरभिसंधियों को स्त्री-कवियों ने समवेत रूप में चिंतन के केंद्र में लाया है। पिछले चालीस-पचास वर्षों की स्त्री-कविता की निजता ने उन सभी सामूहिक स्थलों पर अपनी वैचारिक उपस्थिति दर्ज़ की है जहां उनके लिए नोस्टेल्जिया (Nostalgia) की भावना ही प्रखर थी। स्त्री-कवियों का यह हस्तक्षेप पितृसत्ता की संरचना में एक जबरदस्त सेंधमारी है।

गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, सविता सिंह, शुभा, रंजना जायसवाल, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे आदि कवयित्रियां अपनी समकालीनता को अपनी तरह से कविता का बाना पहनाती हैं। इन स्त्री-कवियों की दुनिया अपनी अस्मिता से शुरू होते हुए जनतांत्रिकता व मानवता के सार्वभौम मूल्यों पर खत्म होती है। इस काव्य-यात्रा में स्त्री-अनुभववृत्तों का एक व्यापक कैनवास मौजूद है जो अपने वर्तमान के प्रति सचेत है और मानव-भविष्य के प्रति विवेकशील।

स्त्री-कविता की परंपरा में गगन गिल का काव्य-संसार एक मोनोलॉग की तरह धीरे-धीरे उद्बुद्ध होता दिखता है और मनुष्यता के शीर्षस्थ मूल्यों को खोज निकालता है। संवेदनाविहीन दौर में स्त्री-मन की तहों को अभिव्यक्त करना, डर और गुप्त अंधेरे से झाँकती सच के चेहरे को कविता में व्यक्त करना कवयित्री की भाव व शब्द-संपदा की अलग शैली की गवाही देता है। बौद्ध वाङ्मय का प्रभाव उनकी कविताओं को इस हिंसाविह्वल समय में अलग आवरण देता है। भाषा की मार्मिकता को भी कवयित्री अपनी तरह से रूपायित करती है। करुणा, प्रेम, अवसाद, विलाप और मृत्यु के बोध की अनुभूतियाँ उनकी कविताओं में बार-बार लौटती हैं।

दरअसल गगन गिल का दुखबोध निजी से अधिक निजेतर है –हमारे समय का है। बावजूद इसके कवयित्री अपने समय की भयावहता को पहचानती है। सामाचार-पत्रों में वर्णित हत्या की खबरों से भी उनका कवि-मन विचलित हो उठता है। उनकी 'चौबीस लाशों के गाँव के बाहर', 'कोई है?', 'पंजाब की बस में', 'कहाँ लगी थी गोली?', 'पाँचवाँ आदमी', 'फांसी की तरफ बढ़ते हुए', 'इसलिए' आदि कविताएं ऐसे दृश्य-बिंबों की रचना करती हैं जिस पर यकीन करना मुश्किल होता है। यह सामाचार-पत्रों में वर्णित हत्या की खबर है या मनुष्य-मनुष्य के बीच विश्वास की हत्या की खबर कहना आसान नहीं है लेकिन कवयित्री की चिंता मरते हुए आदमी के भीतर चल रहे अंतिम आत्मसंवाद तक पहुँचने की है। मृत्यु से पूर्व या आत्महत्या से पूर्व व्यक्ति के भीतर का अंतर्विरोध क्या होगा? समकालीन हिंदी स्त्री-कविता की यह विशिष्टता ही है कि वह प्रत्येक घटनाओं में कविता को दर्ज़ करती दिखती है। व्यक्ति की मनःस्थिति के भीतर प्रवेश करना और उसकी मूल आकांक्षा को सामने रखना उनका लक्ष्य है : "मरने से पहले के / उस छोटे-से क्षण में / क्या सोचा होगा उसने?"[5] या "अख़बार में छपा / तुम्हारा ही चेहरा है न यह? / कत्ल कर दिया गया है जिसका? / तुम ही हो न जिसके लिए / कह दिया मैंने यूँ ही / छोड़ेंगे नहीं वह तुम्हें / हद से हद एक महीना और"[6] कवयित्री का यह आत्मसंवाद अपने काल की प्रत्याशित दुर्घटनाओं से है। यह जितना मृत्यु पाने वाले के लिए है, उससे भी अधिक समय के हत्यारे व कातिल के लिए भी है। 'पंजाब की बस में' और 'कहाँ लगी थी गोली? (संत लोंगेवाल की स्मृति में)' दोनों ही कविता गगन गिल की स्मृति को झकझोरती है। आत्महत्या और हत्या के इस दौर में मनुष्य का आत्मन पूरी तरह टूट चुका है। इसलिए 'फांसी की तरफ बढ़ते हुए' पहला या आखरी आदमी सिवाय अंत के कुछ नहीं सोचता। गगन गिल इस बिम्ब को कविता में बड़े सावधानी से रखती हैं ताकि उसकी मार्मिकता कहीं भी टूटे नहीं।

कात्यायनी की कविताएं समकालीनता के विभीषण संदर्भों को स्पष्ट करती हैं। घरेलू, राजनीति, गाँव, शहर और पितृसत्ता के क्रूर चेहरे का अक्स उनकी काव्य-सर्जना की मूल शक्ति

है। समाज में क्रांतिधर्मी बदलाव की अलख लिए कवयित्री आज भी समाजवादी वैचारिक संघर्ष से नाता जोड़े हुए है। कविता और समाज के कुफ़्र होने पर भी उनसे दूरी संभव नहीं है। क्रान्ति ही बदलाव की एकमात्र युक्ति है। अतः एक स्त्री के नजरिए से वह पूरी व्यवस्था की कटुता और दाहकता को कविता में दर्ज़ करना चाहती है। शिल्प के स्तर पर व्यापक विद्रोह उनकी कविता आप है। कम्युनिस्ट होने की शर्त पर दुनिया को सबसे सुंदर बनाने का स्वप्न कविता ही दिखा सकती है। सच्चा कम्युनिस्ट होना सम्पूर्ण मानव होना है। अतः कविता में अपनी विचारधारा की स्पष्ट बुनावट के लिए भी कात्यायनी की कविताएं समकालीन स्त्री-कविता की परंपरा में प्रगतिशील-दृष्टि की द्योतक है। साहित्य, कला, राजनीति, आस्था, आम आदमी के दुख-दर्द के साथ उसकी कमजोरियों को, उनके सांप्रदायिक मंसूबों को, सत्ता द्वारा या नव-फासीवादी ताकतों द्वारा उन्हें बार-बार छले जाने पर वह करारा व्यंग्य करती हैं। समकालीनता की गहरी समझ ही उनकी कविता को मजबूत आधार देती है। 'गुजरात-2002', 'आह मेरे लोगों! ओह मेरे लोगों!', 'इंकिलाब के बारे में कुछ बातें' कविता सीरीज की कविताएं और शीर्षकविहीन कविताएं समकालीन-बोध से उपजी कविताएं हैं। इन कविताओं में जनचेतना की मुख्य भूमिका है। सत्ता के सांप्रदायीकरण में अंततः क्षति का पूरा बीड़ा गरीब-आमजनता को ही उठाना पड़ता है, बच्चे उन्हीं के मरते हैं, स्त्रियाँ उन्हीं के घरों की बलात्कृत की जाती हैं और जलाई जाती हैं। सत्ताधीश हमेशा अगले शिकार के लिए स्वयं को उससे बचा लेता है :

"भूतों के झुंड गुजरते हैं / कुत्तों-भैसों पर हो सवार
जीवन चलता है कंडों-सा है गगन उगलता अंधकार।
यूँ हिन्दू राष्ट्र बनाने का / उन्माद जगाया जाता है
नरमेघ यज्ञ में लाशों का / यूँ ढेर लगाया जाता है।
यूँ संसद में आता बसंत / यूँ सत्ता गाती है मल्हार

यूँ फासीवाद मचलता है / करता है जीवन पर प्रहार।

इतिहास रचा यूँ जाता है / ज्यो हिटलर का अट्टहास

यूँ धर्म चाकरी करता है / पूँजी करती वैभव-विलास।"[7]

यह कविता अप्रैल 2002 में लिखी गई थी। सांप्रदायिक हिंसा इस देश के इतिहास पर लगे वे काले धब्बे हैं जिसे कभी मिटाया नहीं जा सकता, जिसकी टीस लोगों के दिल-ओ-दिमाग में दहशत की तरह अब तक बनी हुई है। हिन्दू राष्ट्र-मुस्लिम राष्ट्र आदि धर्म-केन्द्रित राष्ट्र की कुत्सित चाहत लाखों की जानें निगल चुकी है। फासीवादी-पूंजीवादी ताक़तें सत्ता के गठजोड़ से नरभक्षी बन पूरी मानव जाति को नष्ट करती हैं 'और नए-नए ऑशवित्ज़ रचते हैं'। वे भूल जाते हैं कि हिटलरी गुमान का भी अंत उसी दारुणता में होता है जिस दारुणता से वे मनुष्यता को कुचलते हैं। कात्यायनी हिन्दुत्व की फर्जी राष्ट्रवादी ताकतों की ख़ूब खिल्ली उड़ाती हैं। उनके आपराधिक कृत्यों की एक-एक कर पोल खोलती हैं। नफरत और घृणा की इस राजनीति के बरक्स कात्यायनी की कविता जनता के लिए एक प्रतिसंस्कृति का निर्माण करती है। इन कविताओं में वर्णित दृश्य इतने भयावह हैं कि एकबारगी ठहरकर सोचना पड़ता है कि किसी व्यक्ति में इतनी नफरत या घृणा कैसे आती है, अपने ही जैसे आम दिखने वाले मनुष्य के लिए! हत्या-आगजनी, मानवता को शर्मशार करने वाली घटनाओं के सामानांतर ही अन्य सभी क्रियाएं सामान्य रूप से चलती हैं। यह इस सदी की विडम्बना है और भयानक रूप भी। एक तरफ जली-अधजली लाशें, बलात्कृत स्त्रियों के मृत शरीर, गर्भवती स्त्रियों के गर्भ से चीरकर निकाले गए शिशु की बोटियाँ, चौराहों-बस अड्डों-स्टेशनों आदि पर चाकुओं-त्रिशूलों से बिंधे नग्न नारी शरीर और दूसरी ओर संसद में बजट पास होना, संसद में कानून बनना, सांस्कृतिक आयोजनों में बौद्धिक लोगों का हिस्सा लेना या कवि-चिंतकों का कोरा विलास जापना आदि मानव-जीवन की भीषणता को और भी भयाक्रांत बनाती है। कवयित्री इस भयानक खेल की नरभक्षी राजनीति की सच्चाई जानती है इसलिए न्याय और मानवता के तिमारदारों का आह्वान

करती है क्योंकि उन्हीं के प्रयासों से अमन संभव है। उनका प्रश्न भी अब व्यवस्था से नहीं आम जनता से ही है :

"आखिर कब वे उठ खड़े होंगे और लोगों को बांटने के
हर षड्यंत्र को निष्प्रभावी बना देंगे?
-हमें पूछना है उनसे जिनका कोई राष्ट्र नहीं,
इस लोक में गुलामी के नर्क से मुक्ति की राहें जिन्हें कोई धर्म नहीं बताता,
जिनके पास जंजीरों के सिवा खोने के कुछ भी नहीं,
जिनकी ज़िंदगी है एक-सी और इसलिए जो तोड़ सकते हैं
धार्मिक पूर्वाग्रहों से जन्मे मिथ्याभास,
जो धार्मिक-सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-नस्ली आधारों पर खड़ी
दीवारों को गिरा सकते हैं बशर्ते कि उनतक
हम एकबार लेकर जा सकें जीवन की गतिकी का ज्ञान।"[8]

'जीवन की गतिकी' का साफ-सुथरा ज्ञान ही आँखों पर पड़े पर्दे को गिरा सकता है। इस जीवन-संघर्ष में कवयित्री की यह सद्भावना समकालीनता की दोहरी-तिहरी चुनौतियों का ही प्रस्फुटन है। समकालीन वास्तविकता को कात्यायनी विभिन्न रूपकों-प्रतीकों के मार्फत स्त्री-जीवन के अस्तित्व से जोड़ती हैं। वर्ग-संघर्ष को भी कवयित्री ने स्त्री की वर्तमान स्थिति से जोड़ उसे नवीन दृष्टि से वर्णित किया है। निरंतर उत्पीड़ित मनुष्यता के साथ स्त्री की पीड़ा को रखना, उनके सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन की आकांक्षा को दर्शाता है।

अनामिका समकालीन स्त्री-कविता की परंपरा में विवेकशील मानस की कवयित्री हैं। उनकी कविताओं की आधारभूमि व अधिरचना उनका 'लोक' है। उन्होंने जिन स्वरलिपियों को कविता में तब्दील किया है वह उनके समय से निःसृत अंतर्विरोध ही है। ग्रामीण एवं नगरीयबोध उनकी काव्य-सर्जना के दो मुख्य अवलंब है जिनके मध्य वे निरंतर आवाजाही करती रहती हैं।

लोक-संवेदना के प्रति गहरे रागभाव ने उनके स्त्रीत्व को और भी अधिक सृजनशील बना दिया है। जब वे ग्रामीणबोध को अभिव्यक्त करती हैं तो अधिक सहज और आश्वस्त रहती हैं। यह आश्वस्ति नगरीयबोध अर्थात महानगर की अंधी दौड़ में गुम-सी हो जाती है। घरेलू वातावरण को तो उन्होंने वैश्विक संदर्भों से जोड़ा है। सामान्य जीवन की सामान्य स्थितियों से कविता को निर्मित करना, स्त्री-अस्मिता को बहनापा भाव से जोड़ना, वैश्विक स्त्री-समुदाय के सम्मुख भारतीय स्त्री की निजता को एक पहचान देना, सामाजिक-राजनैतिक विषमता या भेदभाव को रेखांकित करना तथा उसके निदान के लिए वैचारिक हस्तक्षेप करना आदि उन्हें समकालीन बनाए रखता है। बच्चे और बूढ़े का समकालीन कविता में व्यापकता से आना समाज के प्रति समकालीन कवियों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। अनामिका भी बच्चे और वृद्धों के प्रति संवेदनशील दृष्टि अपनाती हैं। स्त्रियों की चिंता के साथ-साथ इन दो वय के लोगों को कवयित्री विशेष दर्जा देती है। 'वृद्धाएं धरती का नमक हैं' कहना ही मनुष्योन्मुखी व्यापक दृष्टि का द्योतक है। बच्चों की जिज्ञासा वृत्ति, चुहल व रोचक संवाद को कविता का रूप देकर उसे शाश्वत प्रश्नों से जोड़ना उनकी विशिष्टता है। आठवें दशक से ही कविता के क्षेत्र में पहचान बना रही अनामिका आज स्त्री-कविता की पहचान हैं। चिंतन और विमर्श के स्तर पर उनकी कविताओं का ग्राफ वैश्विक-दृष्टि तक पहुंचता है। 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' की धारणा को अपनी कविताओं में पुष्ट करते हुए वे पितृसत्ता की सामाजिक संरचना में पशुवत आचरण करने वाले को दो टूक सुनाती है : " 'तुम्हारा सुधार नहीं, / व्यर्थ मैंने ऊर्जा ज़ाया की' / खासे संताप से उसने कहा / और चला गया! / जब वह चला ही गया / राममोहन रॉय, ईश्वरचंद्र, कार्वे, / रानाडे, ज्योतिबा फुले, / पण्डिता रमाबाई, सावित्री बाई - / मुझसे सब मिलने आए! / उन्होंने मेरा माथा सहलाया / और बोले धीरे से - / 'इतिहास के सुधार आंदोलन / स्त्री की दशा को निवेदित थे, / और सुधरना किसे था, यह कौन कहे!'"[9] इतिहास में जाकर अपने वर्तमान के पौरुषपूर्ण समय को आईना दिखाना, अपनी मूल परंपरा को छेड़ते हुए उसके साथ बने रहना ही कवयित्री के

सुधारवादी दृष्टिकोण को दिखाता है। स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों की सामाजिक अवस्थिति ही किसी भी प्रगतिशील समाज की पहचान है।

अनामिका उन सभी पितृसत्ताकीलित विचारों, चिन्हों को प्रश्नांकित करती हैं जिसे आज भी स्त्री-जीवन का पर्याय बनाए रखने की कोशिश की जा रही है। स्त्री की पीड़ा के बाह्य घटकों को, उसमें अंतर्निहित मुक्ति के स्वप्नों को यथार्थ रूप देते हुए कवयित्री सभी वर्जनाओं को तोड़ फेंकना चाहती है। द्वंद्व, ऊहापोह व अधर में लटका दिए गए स्त्री-जीवन को 'टू बी और नॉट टू बी' कविता में व्यक्त किया गया है। इस अंतर्द्वंद्व के पश्चात ही धीरे-धीरे उस चेतना का विकास होता है जिसे मुक्ति कहा जाता है। पीड़ा से मुक्ति की यह काव्य-यात्रा उसके जीवन की यात्रा भी बनती है और प्रकारांतर से प्रतिरोध की भी। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण कविता 'चीख' है जिसमें मुक्ति के अनहद रूप को अभिव्यक्त किया गया है। इस कविता में स्त्री की पीड़ा, चीख, बेबसी और ज़ंजीरों को 'आदिवासी रूपसी' से उपमित किया गया है। कवयित्री को भलीभाँति ज्ञात है कि आदिवासी रूपसी स्त्री होने का दंश कितना भयावह है। इसके साथ ही यह भी कि जब कभी वह अपनी चुप्पी तोड़ती हैं तो पूरा जंगल नाच उठता है : "एक चीख मेरे भी भीतर दबी है! / उसका बस चले अगर तो / मेरी पसलियाँ तोड़ती / निकल आए बाहर! / ये चीख मेरी / आदिवासी रूपसी की तरह / अब तक किले के तहखाने में / टहल रही है बेबस। / जंजीरें छूमछनन उसके पैरों की / जिस दिन भी टूटेंगी-देखना- / बिन घुंघरू नाच उठेगा जंगल!"[10] यह 'चीख' ही स्त्री के सामाजिक संबंधों को नयी ऊष्मा देगी और संबंधों का नया व्याकरण रचेगी। स्त्री जीवन को तहखाने में तब्दील करने वाली ताकतों से कवयित्री परिचित है इसलिए वह स्त्री के भीतर निर्मित हो रही क्रान्ति चेतना के प्रस्फुटन का इंतजार करती है। यह प्रतिरोध की आंच ही समकालीनता की भविष्योन्मुखी समझ को विकसित करती है। अनामिका इसे अपने इतिहास, लोक ज्ञान तथा अनुभव-संसार से अर्जित करती हैं। एक नवीन विवेक के आग्रह के साथ वह अपने समय को संवेदनशील बनाना चाहती है। स्त्रियों, दलितों, बच्चों, वृद्धों तथा

हाशियाकृत समाज को विकास के पथ पर अग्रसर होते देखना चाहती हैं। समकालीनता के बीहड़ पथ पर अनामिका का विवेकशील मानस उन्हें ऐसी दृष्टि देता है जो इतिहास, वर्तमान और अपने लोक तीनों से उन्हें एकसाथ जोड़े रखता है।

समकालीन स्त्री-कविता की परंपरा में सविता सिंह की कविताएं स्त्री की अबाध मुक्ति के स्वप्न को रचती हैं। अपने आसपास की घटनाओं, प्रपत्तियों और जीवंत पात्रों के माध्यम से उन्होंने स्त्री-कविता का नवीन सौंदर्यबोध निर्मित किया है। 'जैसे मॉनसून की पहली हवा चली हो', 'मैं किसकी औरत हूँ', 'कुसुम का सत्याग्रह', 'बैठी हैं औरतें विलाप में', 'अद्वितीय नाच', 'प्रेम के बारे में', 'ईश्वर और स्त्री', 'आघात', 'पसंद की जाने वाली स्त्री', 'स्वप्न के ये राग' आदि कविताएं गहरे आस के साथ स्त्री की सामाजिक-राजनीतिक पोजीशन की कविताएं हैं। कवयित्री अपने समाज के पीड़ाबोध को, स्त्री-स्वतंत्रता की नींव को नवीन भाष्यों से जोड़ती है। निरंतर प्रश्नाकुलता के साथ नवीन सभ्यता विमर्श की आधारभूमि रचती हैं सविता सिंह की कविताएं। अपने भीतर की हलचल को वह एक रूपक में सँजोती है। उन सभी बेड़ियों-बंधनों को पिघला देना चाहती है जो देह-मन-आत्मा को आबद्ध किए रहती है। जैसे मॉनसून की पहली हवा चलने से चट्टानें धीमे-धीमे दरकने लगती है, घोर बारिश में वनस्पतियां अपना नवीन रूप ग्रहण करने लगती हैं ठीक वैसे ही स्त्री-जीवन में मुक्ति की लालसा भी नम ऊष्मा के साथ भीतर और बाहर उद्वेलित हो जाए "हलचल हो भीतर खनिजों में मेरे भी / पिघले जो दरकने के बावजूद पड़ा रहता है निश्चल / उगे मेरी आत्मा में अबाध मुक्ति / भीतर के हलचल से भर जाये बाहर का वातावरण / टूट जायें वे खतरनाक पुल सहिष्णुता के / जिनसे चलकर आती है अब तक / दासता की मूक स्वीकृति।"[11] शरीर और मन पर पड़ने वाले आघात को कवयित्री एक रचनात्मक धरातल देती है। दासता से मुक्ति की यह यात्रा पितृसत्ता की किलेबंदी से मुक्ति का प्रयाण भी है। कवयित्री उन सभी मूक स्वीकृतियों की ज़ंजीरों को तोड़ने के लिए उन्हें अपने समय की प्रतिरोधात्मक शक्तियों से जोड़ती है। गहरे आत्ममंथन से उद्भूत इन पंक्तियों में स्त्री-जीवन से जुड़े

ऐसे सवालों से मुठभेड़ है जो सवाल आज भी स्त्री-जीवन को एक विशेष गह्वर में ही बनते-बिगड़ते देखना चाहते हैं।

सविता सिंह की कविता में आए सभी स्त्री पात्र – कुसुम, सुप्रिया, विमला, रोजमरी, सुमन, सारा, रूथ आदि उनके अपने समय के हैं, उनके अपने जीवन के हैं, उनके अपने आसपास के हैं। वे इन सामान्य स्त्रियों के जीवन को कविता में लाकर एक विमर्श का रूप देना चाहती हैं। साधारण स्त्री की एक बड़ी दुनिया सविता की कविताओं में रूपायित है। दूसरी ओर उनकी दृष्टि उन क्रूरताओं पर भी जाती है जिसे सत्ता-व्यवस्था ने दहशत फैलाने के लिए ही पाल रखा है। विगत दो दशकों में सांप्रदायिक उन्माद, किसान आत्महत्या, स्त्री-हिंसा, बलात्कार, हत्या आदि की घटनाएं जिस तादाद में बढ़ी हैं, वह हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक सौहार्द व लोकतंत्र को बुरी तरह से क्षतिग्रस्त किए हुए हैं। 'खून और खामोशी', 'मुस्ताक मियां की दौड़', 'जहां मेरा देश था', 'जो कोई भी नेक इंसान कहेगा', 'अंत', 'स्वप्न के ये राग' आदि कविताएं समकालीन ज्वलंत मुद्दों से रूबरू होने की कविताएं हैं। कवयित्री की संवेदना ने इन घटनाओं को जिस फ्रेम में रचा है, वह समकालीनता की सीमाओं को और भी विस्तृत रूप देता है। सत्ता-व्यवस्था की क्रूरता और मूर्खता जब अपने चरम पर होती हैं तो वह इंसान होने की गरिमा भी खो बैठता है। स्त्री-दृष्टि को गहरे मानवीय सहानुभूति और सामाजिक बोध से संयोजित करते हुए कवयित्री कविता को विभिन्न मानवीय सरोकारों से संबद्ध करती है।

सामाजिक-राजनीतिक बोध के सवालों पर शुभा की कविता अत्यधिक समकालीन जान पड़ती है। बतौर सामाजिक कार्यकर्त्ता उनकी कविताओं का रेंज अधिक मुखर और यथार्थोन्मुखी दिखता है। अपनी अस्मिता और सामाजिक दायित्व को निभाती शुभा का कवित्व अपने समकालीन चुनौतियों से मुठभेड़ करता है। जनतंत्र, ऐतिहासिक विवेक और वर्तमान राजनीतिक शक्ति संरचनाओं के कई शेड्स में स्त्री-जीवन और जनमानस की चितवृत्तियों को कवयित्री परखती है। 'हमारे समय में', 'मित्रों की दुनिया', 'गैंगरेप', 'आदमखोर', 'गौरवमयी संस्कृति',

'मैं हूँ एक स्त्री', 'हम बोलती हैं' आदि कविताओं का टोन और वस्तु-विन्यास असहायता, निराशा के बावजूद साहसिक व सकरात्मक दिशा की ओर संकेतित है। आधुनिक मानव की चेतनशीलता की एकरेखीय स्थिति ने मनुष्य जीवन की संभावनाओं को सीमित दिशा की ओर मोड़ दिया है। उदारता, प्रेम, सहिष्णुता आदि मूल्यों के स्थान पर नफरत, घृणा और अंधाधुंध-विषाक्त व्यापार ने ले लिया है। व्यक्ति महज इस युग में एक उत्पाद (commodity) बन कर रह गया है। शुभा की कविता 'यह सबसे कठिन समय नहीं' और 'हमें जल्दी है' अपने समय को बयान करती कविताएं हैं। घोर निराशा और अंधकार में भी प्रतिरोध को बनाए रखने की ललक इनकी कविताओं की विशेषता है। परिवार, समाज और सत्ता द्वारा आरोपित आदर्श को बाजार ने भी स्त्री-जीवन के साथ अंतर्भुक्त कर दिया है। इस तथाकथित 'गौरवमयी संस्कृति' के गिने-चुने बीज शब्दों के पीछे की रणनीति को शुभा बड़े सहज ढंग से कविता में लाती हैं।

रंजना जायसवाल और अनीता वर्मा की कविताएं भी अपने समकालीन यथार्थबोध के प्रति अत्यंत सजग हैं। वह अपने वर्तमान की जमीन पर ठहरकर ही अतीत-वर्तमान और भविष्य की मानव-सभ्यता पर विमर्श करती हैं। जनतांत्रिक मूल्यों का समाज के अंतिम व्यक्ति तक न पहुँचना दर्शाता है कि वह एक विशेष वर्ग तक ही सीमित रह गया है। सत्ता, कानून और व्यवस्था का पुरुषवादी चरित्र स्त्री ही नहीं, सम्पूर्ण मानव जाति को कैद किए रहता है। 'स्त्री और सेंसेक्स' तथा 'तुम करो तो पुण्य हम करें तो पाप' पुस्तकों में संकलित विचारपरक निबंधों में रंजना जायसवाल स्त्री संबंधी सवालों को राष्ट्रव्यापी बनाती हैं। सम्मान, समानता और संवैधानिक अधिकारों के प्रति स्त्री समुदाय की एकजुटता आवश्यक है। आज चारों ओर से उपभोक्तावादी-बाजारवादी संस्कृति ने स्त्री-जीवन को बदतर कर दिया है। जातीय-वर्गीय तथा लैंगिक उत्पीड़न आदर्श समाज की परिकल्पना को हमेशा के लिए धूमिल कर देता है। स्त्री के प्रति तमाम तरह की हिंसा, फूहड़ता और कुंठित सोच ने नागरिकता के मायने को, जनतंत्र के अर्थ को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। रंजना अपनी कविताओं में समय के छोटे-छोटे अंतरालों को बिंबों में

निरूपित करती हैं। उनके यहाँ सामान्य से सामान्य स्त्रियाँ आती हैं और स्वयं को प्रकाशित कर निकल जाती हैं। घर में, सड़क-चौराहे पर पौरुषिक हिंसा की शिकार होती स्त्रियाँ हो या बाजार और पूंजी की गिरफ़्त में गुलाम होती स्त्रियाँ सभी रंजना जायसवाल की कविता का हिस्सा बनती हैं। वो सबकी एक पहचान चाहती हैं और उनकी पहचान खोजती भी है "आखिर इन बच्चियों की वल्दियत क्या है? / जो रेलवे प्लैटफ़ार्म पर किन्हीं अंधेरे कोनों में / पैदा होती हैं / और किशोर होने से पहले ही / औरत बना दी जाती हैं। / जो दिन-भर कचरा बीनती है / और शाम को नुक्कड़ों-चौराहों के / अंधेरे कोनों में ग्राहकों का इंतजार करती हैं।"[12] कवयित्री का प्रश्न अपने समय, समाज से ही है कि 'इन बच्चियों कि वल्दियत क्या है?' असाध्य रोगों, कष्टों से मरती इन बच्चियों, महिलाओं की संख्या बहुत अधिक है। तथाकथित सभ्य समाज इन्हें अपने घर-परिवार से दूर रखते हैं। सामान्य स्थिति में भी हमारा समाज वेश्याओं को हीन दृष्टि से देखने को अभ्यस्त है। वह भी एक मानवी हो सकती है, सामान्य स्त्रियों की तरह उन्हें भी दुख, दर्द, पीड़ा हो सकती है, यह हम कभी सोच नहीं पाते हैं। देह ही उनका परिचय और अस्तित्व बनकर रह जाता है। देह से परे उनकी पहचान कभी बन नहीं पाती। रंजना का कवि मन इस उपेक्षित समुदाय को अपनी संवेदना के घेरे में लेता है।

अनीता वर्मा मूलतः स्मृतियों को सुरक्षित रखने का काम कविता में करती हैं। वह निराशा और विकलता के बीच भी उम्मीद व आस की लौ जगाती हैं। कवयित्री 'समय का हिसाब' करना जानती है। समय उनकी कविताओं में युग अथवा काल की भांति संदर्भित है। काल उनके लिए महज 'बीता हुआ' (बीत रहा) समय नहीं है, बल्कि वह प्रकृति और ऋतु परिवर्तन का साक्षी भी है। अपने समय की गवाह बनती अनीता वर्मा की कविताएं समय की आकांक्षा को भी स्वर देती हैं "मरता है रोज समय / अपने बचे हुए समय के भीतर / जन्म लेता है जो कुछ / वह गिरता है फिर समय पर / उम्मीद बचपन का एक पेड़।"[13] अपने समय का यह एक अलग विश्लेषण है जो कवयित्री की आत्मिकता के बावजूद गहरी मानवीय संवेदना को भी जोड़ता है।

नीलेश रघुवंशी की समकालीनता को सुनिश्चित करने के लिए उनकी कविताओं में निहित विभिन्न लोक संवेदनाओं के राग को चिन्हित करना होगा। घर-परिवार की जटिलताएँ हो या किसान-मजदूर की दुरावस्था और सत्ता की अव्यवस्था आदि सभी की परतों को वह एक आम जनता की नज़र से देखती हैं। प्रेम और प्रतिरोध – ये दो मुख्य औज़ार हैं नीलेश रघुवंशी की काव्य-सर्जना के ; जिसके सहारे वह परिवार-समाज तथा पूरी दुनिया को बदलने का सपना देखती हैं। सबको सब कुछ बराबरी से मिलें, इस अंतर्विरोध के साथ कवयित्री नीलेश रघुवंशी साधारण से साधारण लोगों को सपने बुनते देखना चाहती हैं। सपने जीवन के मर्म तक पहुँचने का एक साधन है। स्त्री-कविता की प्रबल हस्ताक्षर रजनी तिलक और सुशीला टाकभौरे आदि दलित स्त्री-कवियों ने भी अपनी कविताओं में सामाजिक न्याय की बात को कहते हुए मानवीय समता व बंधुत्व का स्वप्न दिखाया है। आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर और वंदना टेटे आदि कवयित्रियों की मूल चिंता उपेक्षा भाव व दृष्टि से परे बेहतर समाज की कामना से अभिभूत है।

ii. समकालीन स्त्री-कविता की प्रवृत्तियाँ :

समकालीन हिंदी स्त्री-कविता के प्रबल हस्ताक्षरों में गगन गिल, तेजी ग्रोवर, निरुपमा दत्त, अनामिका, कात्यायनी, रजनी तिलक, शुभा, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, अनीता वर्मा, रंजना जायसवाल, निर्मला पुतुल आदि महत्त्वपूर्ण कवयित्रियाँ हैं। इन्होंने अपने समय की नब्ज को पहचानते हुए अपने अस्मितामूलक संघर्ष की आवाज को बुलंद किया है। स्त्री के अनुभव का संसार कविता का रूपक जैसे-जैसे बनता गया, वह स्त्री रचनाकारों के लिए एक महफूज़ तथा दूसरे घर का पर्याय बन गया। अपने समय के बहाने इन कवयित्रियों ने न सिर्फ अपनी गाथा को काव्यरूप दिया बल्कि समस्त स्त्री जाति के दंश को भी निर्भीकता से रखा है। इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों की जहालत, स्थिति और अवस्थिति का अंकन हुआ है। यह भी ध्यातव्य हो कि यहाँ निरा वैयक्तिक दुःख अथवा रोना-धोना नहीं है, बल्कि एक स्त्री का संपूर्ण विश्व के प्रति भाव, सोच व चिंतन की भी झलक है। अपने इतिहास, संस्कृति, परंपरा आदि को किस रूप में देखती है, अपने साथ हुए इतिहास में अन्याय पर उनका रुख़ आदि सभी को एक नए सिरे से स्त्री-कविता चर्चा के केंद्र में लाती है- प्रतिशोध की भावना से नहीं, बल्कि प्रतिरोध की भावना से! जब हम इन कविताओं से गुजरते हैं तो पाते हैं कि अब तक हमने जो कुछ भी सीखा या देखा या सुना है, वह केवल सिक्के का एक पहलू भर है। सिक्के के दूसरे पहलू को हमसे दूर ही रखा गया या यूँ कहें कि उसी एक पहलू को ही संपूर्ण पहलू बताया जाता रहा। कहने का सीधा अर्थ यह है कि अब तक का इतिहास, विज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति पुरूषोचित्त रहा है, उसमें स्त्रियाँ अनुगामिनी मात्र हैं, अथवा नहीं हैं। अत: जरूरी है कि उस सिक्के के दूसरे पहलू को भी एक नई दृष्टि से देखें-परखें। इस दौर की स्त्री-कविता इस काम को बड़ी संजीदगी से विगत तीस-चालीस वर्षों से कर रही है। परिणामत: हम स्त्री-कविता के संसार में एक नए इतिहास, एक नए समाज और मानवीय संबंधों की एक नयी गरमाहट को महसूस करते हैं।

एक दिलचस्प बात जो स्त्री-कविता को समस्त साहित्येतिहास ही नहीं, पूरे पुरुषतांत्रिक समाज से अलगाती है वह है उनका सर्वसमावेशीपन। इस सर्वसमावेशीपन में अपने प्रतिपक्ष के प्रति वह कोई फतवा जारी नहीं करती और न कोई दैहिक-मानसिक सिविल कोड बघारती है जैसा कि स्त्री जाति के साथ दुनियाभर की पुरुषवादी सत्ता-व्यवस्था ने किया है बल्कि उल्टे स्त्री-कविता कई मसलों पर पुरुष की पक्षधर होती दिखती है। अपनी समावेशी चेतना में वह समस्या के निदान व उपचार अथवा परिवर्तनकामी उर्ध्वगामी होती दिखती है। अनामिका, कात्यायनी, रंजना जायसवाल, सविता सिंह आदि सरीखी कवियों में इस उर्ध्वगामी चेतना का प्रसार दिखता है। अपने इतिहास-विवेक एवं वर्तमान द्रष्टा प्रज्ञा से स्त्री-कविता ने अपने समाज को पुन: जगाने का यत्न किया है। स्त्री-कविता में 'स्त्री' एक राष्ट्र, एक समाज के साथ ही मनुष्यता का पर्याय है। स्त्री पर बात करना पूरी सभ्यता-संस्कृति और समस्त मनुष्य जाति पर बात करना है। इस संसार को नए रूप में देखने के लिए स्त्री-संसार से रूबरू होना ही होगा। स्त्री-कविता विशेषण इसी दृष्टि से नवाचार की अपेक्षा रखता है। नया नजरिया अपनाने पर ही हम स्त्री-संसार को और अपने संसार को नए तरह से देख सकते हैं। यह नयी दृष्टि का उद्रेक स्त्री-कविता में ही निहित है। लैंगिक असमानता के अवगुंठन से मुक्त होकर ही हम उस नयी दृष्टि का संधान कर सकते हैं। स्त्री-कविता के सन्दर्भ में नयी दृष्टि इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि समाज में स्त्री को बड़े सीमित क्षेत्रों में देखा जाता रहा है तथा नैतिकता के बोझ तले उसे दबाए रखा गया है और तो और दुनियादारी का अधिकांश क्षेत्र महिलाओं के लिए वर्जित रहा है। स्त्री-कविता इन सारे लघुता को धत्ता बताते हुए अपना परिविस्तार करती है। अपने आस-पास घट रही घटनाओं के साथ राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर, चाहे वह स्त्री से संबंधी हो या मानव मात्र से संबंधित, कविता का विषय बनाती है। राजनैतिक षडयंत्रकारी नीतियों ने देश में जो उपभोक्तावादी संस्कृति को पनाह दी है, उसकी भी खबर स्त्री-कविता ने बखूबी ली है।

पदानुक्रममुक्त समाज की परिकल्पना, लैंगिक असमानता, सामाजिक-पारिवारिक संस्थाओं को संवेदनशील बनाना, पारिस्थितिकी संतुलन, यूरोसेंट्रिक और पश्चिमपरस्त सोच के अन्धानुकरण पर लगाम लगाना तथा लोकतांत्रिक संवेदनापरक मानवीय रिश्तों की स्थापना आदि स्त्री-कविता का दार्शनिक प्रकल्प है। दार्शनिक प्रकल्प इस अर्थ में भी कि स्त्री-कविता विगत तीन-चार दशकों में केवल हो-हल्ला, नारेबाजी या कला की जादूगरी में अपना समय व्यय नहीं किया है, बल्कि इस सदी के जिम्मेदारी-बोध एवं शाश्वत मूल्यबोध आदि का पुनर्संस्कार किया है, उसे सच्चे अर्थों में मानवीय गरिमा प्रदान किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जड़ीभूत, रूढ़िबद्ध और संकीर्ण समाज के गलियारे में स्त्री होते हुए अपने प्रतिपक्ष पुरुषवादी समाज व मान्यताओं से लड़ना तथा उस यात्रा पर निकलना जो असल मायनों में 'मनुष्य' बनाता हो, आसान नहीं था। हमें यह भी याद रखना होगा कि इन कवयित्रियों ने कविताओं द्वारा एक संसार का निर्माण तो किया ही है, दूसरे अपने चिंतन, विचारात्मक लेखों द्वारा भी अपने समय-संदर्भ को विवेचित-विश्लेषित किया है। लगभग सभी कवयित्रियों ने भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपने विचारों की गहराई से प्रभावित किया है तथा समाज को नई दिशा देने का काम किया है। अपने समय की चर्चित कवयित्री अनामिका ने समकालीन स्त्री-कविता की महत्त्वपूर्ण चार प्रवृत्तियों का उल्लेख अपने एक आलेख में किया है। वे चार मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं :

1. अस्तित्ववादी रंग की कविताएं
2. बायोमाइकोग्राफिक परंपरा की कविताएं
3. स्त्रीवादी प्रपत्तियों से बौद्धिक संवाद करती कविताएं
4. राजनीतिक जज्बे की कविताएं

पहले वर्ग के अन्तर्गत गगन गिल, तेजी ग्रोवर, ज्योत्स्ना मिलन, सुनीता जैन, अनीता वर्मा और इला कुमार आदि की कविताएं आती हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत कीर्ति चौधरी, नीलेश रघुवंशी,

संध्या गुप्ता, निर्मला पुतल, अनीता और कात्यायनी आदि की कविताएं आती हैं। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत स्नेहमयी चौधरी, अर्चना वर्मा, ममता कालिया, इंदू जैन, कमल कुमार, सविता सिंह आदि की कविताएं हैं तथा चौथे वर्ग के अन्तर्गत कात्यायनी, निर्मला गर्ग, रमणिका गुप्ता, शुभा, शीला सिद्धान्तकर और मंजरी जैसी कवयित्रियों की कविताओं को लिया गया है। संक्षेप में उन्होंने इन चार प्रवृत्तियों की विशिष्टता को भी रेखांकित किया है। समकालीन स्त्री-कविता की प्रवृत्तियाँ विशद एवं व्यापक जनसरोकारों को लिए आगे बढ़ रही हैं। इसमें विविधता और भास्वरता दोनों ही गुण विद्यमान हैं। इन प्रवृत्तियों को विस्तार से विभिन्न प्रकरणों में देखा जा सकता है:-

1. *मुक्ति दो मुझे छल से* / (पारिवारिक-सामाजिक वर्जनाओं से मुक्ति की कविताएं) :

"मुक्ति दो मुझे छल से/ बल दो कि मेरा प्रेम बदलने न पाए छल में।"[14] ये काव्य-पंक्तियाँ नीलेश रघुवंशी की 'प्रार्थना' कविता से उद्धृत है। छल से मुक्ति की कामना की प्रार्थना अर्थात् अहिंसात्मक सौहार्द के साथ आगे बढ़ने की चेतना। मुक्ति की चेतना का यहाँ अभिप्राय एक बड़े विजन से है। इस विजन में संपूर्ण स्त्री-जाति के शोषण का रुदन है, कराह है तथा उससे निजात पाने की हिम्मत भी। मुक्ति की चेतना से हष्ट-पुष्ट स्त्री-कविता समकालीन हिंदी कविता में हलचल पैदा करती है क्योंकि सवाल बार-बार उठता है कि मुक्ति किससे? और क्यों! इसी का जवाब स्त्री-कविता प्रत्येक कोण से देती नजर आती है। स्त्री-साहित्य अथवा चिंतन का मूल ही मुक्ति के संकल्प से आरंभ होता है। प्रत्येक स्त्री-लेखन के तह में इस संकल्प को मजबूती से देखा जा सकता है। मुक्ति उन सभी आतातायी विचारों, ग्रंथों, नियमों तथा वर्जनाओं से जिससे स्त्री मनुष्य से एक अनुगामिनी, देवी और चरित्रहिना, कुल्टा आदि बना दी जाती है। मुक्ति उन पूर्वाग्रहों से जिसमें स्त्री पुरुष भंजक करार दी जाती है, मुक्ति उन अलंकरणों से जिससे समाज में स्त्री मानो कोई मनुष्य नहीं मनोरंजन का पात्र अथवा कल्पवृक्ष हो जिससे जो चाहो वह पूरा कर सके। समाज व साहित्य में प्रचलित भोग्या, कुल्टा, मृगनैनी, पिकबैनी, सेविका, गणिका,

चिरवियोगिनी, सुहासिनी, माया, छाया, प्रेरणा आदि ऐसे सैकड़ों अलंकरण हैं जो स्त्री के व्यक्तित्व को खंडित कर छिन्न-भिन्न करते हैं। इस मकड़-जाल को स्त्री-कवियों ने शनैःशनैः तोड़ने का प्रयत्न किया। शुभा 'नरक का द्वार' शीर्षक कविता में लिखती हैं-

"नरक का द्वार
जिसे बंद किया था
महापुरुषों ने
शास्त्रों, पुराणों, मोक्ष
और ब्रह्मचर्य से
खुला है।"[15]

सामाजिक वर्जनाएँ तथा स्त्री संबंधी संहिताएँ नरक के द्वार के पर्याय हैं जिनसे मुक्ति की राहें स्त्रियाँ खोज रही हैं। शास्त्र, पुराण, मोक्ष, ब्रह्मचर्य आदि संज्ञा तथा महापुरुषों के पुरुषत्व में कहीं भी स्त्रीत्व अथवा स्त्री की वैचारिकी का स्पर्श भी नहीं है। इसलिए कवयित्री इसे धूर्त, पाखंड और नरक के सदृश्य देखती है। शास्त्रों-पुराणों में स्त्री-विषयक व्याख्या भी पुरुषों द्वारा ही उल्लिखित है। लगभग सभी स्त्री कवियों ने अपनी कविताओं में निजता के धरातल पर, अपने अनुभव के आधार पर मुक्ति की संकल्पना को अलग-अलग मोर्चों पर लामबंद करती है। इसकी ऊर्जा उन्हें ऐतिहासिक-सामाजिक अन्याय से मिलती है। कात्यायनी, अनमिका, गगन गिल आदि कवयित्रियां पुरुष द्वारा प्रक्षेपित उस धारणा को कविता में बदलती है जिसमें स्त्री-साहित्य को सीमित साहित्य की कोटि में रखा जाता है अथवा नकार की दृष्टि से देखा जाता है। राजनीतिक, सामाजिक गतिविधियों तथा कला साहित्य के सभी प्रेरक तत्वों पर स्त्री-कविता अपनी बेबाकी पुरजोर ढंग से रखती है। कात्यायनी स्त्री के 'त्रियाचरित्रं पुरुषस्य भाग्यम' की पूर्वाग्रही, विकृत मानसिकता के प्रतिउत्तर में उस मानसिक विकलांगता को दर्शाते हुए उस दैवीय छल-प्रपंच से मुक्ति चाहती हैं-

"क्या थी वह सेवा

वह निष्ठा, वह लगन,

वह श्रद्धा

आखिर क्या थी?

त्रियाचरित्र नहीं जान सके गुरु,

स्त्री को नहीं पहचान सके।

प्रेम का स्वांग तो ताड़ गए

पर प्रेम न पा सके गुरु।"[16]

शास्त्रों, पुराणों तथा धार्मिक ग्रंथों की स्त्री छवि उसे अंततः पुरुष से हीनतर, कमतर ही आंकती है। धर्मग्रन्थ पितृसत्तात्मक व्यवस्था के वे उपकरण हैं जिसमें स्त्री को दोयम दर्जे में रखने के हजारों नियम मौजूद हैं। इसकी ताकत इस बात से भी लगाई जा सकती है कि यह विचार के रूप में वर्षों से स्त्री समाज पर भी प्रक्षिप्त है।

मुक्ति के स्वप्न अथवा अभिलाषा को स्त्री कवियों ने अलग-अलग अनुभव बिम्बों से काव्यमय रूप दिया है। स्त्री की अस्मिता और सामाजिक अवस्थिति पर गगन गिल की लेखनी ने स्त्री के आत्मसंघर्ष के कई परतों को उघारा है। पारिवारिक स्त्री के आत्मन के रेखांकन को यहाँ साफ देखा जा सकता है। सविता सिंह और अनीता वर्मा स्त्री के बाहरी संसार तथा भूमंडलीकरण के भंवर में फँसी स्त्री की स्थिति को अपनी कविताओं का वर्ण्य विषय बनाने के साथ ही स्त्री मन की उन खोहों को भी उजागर करती हैं जिसमें निरंतर द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। समाज में स्त्री की भागीदारी की महत्ता, राजनीति में हस्तक्षेप के मायने तथा संपूर्ण मनुष्य जाति के साथ स्त्री-जाति के उत्थान की चेष्टा शुभा, अनामिका, नीलेश, रंजना जायसवाल तथा निर्मला पुतुल आदि कवयित्रियों में देखा जा सकता है। समाज की वर्णवादी व्यवस्था ने संपूर्ण समाज की अधोगति को विनष्ट कर मनुष्यता को जो क्षति पहुँचाई है, उसकी भरपाई का आह्वान

स्त्री-कविता का अद्यतन स्वर दलित कवयित्री रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रमणिका गुप्ता आदि कर रही हैं। समाज के प्रत्येक वर्ग की आवाज को इसमें साफ सुना जा सकता है। निम्न मध्यवर्गीय समाज में महिलाओं की चिंता एवं चुनौतियों के साथ मुक्ति की कामना का संकल्प कवयित्री नीलेश की कविताओं की विशिष्ट पहचान है। स्त्री-मुक्ति के सवालों पर नीलेश खुलकर सामने आती हैं और मुक्ति की स्वाभाविक लालसा को बड़े ही सहज, सरल शब्दों में प्रस्तुत करती हैं-

"ओ कामगार स्त्री
देखती हो कभी आसमान, कभी जमीन
निपटाओं बखूबी अपने सारे कामकाज
होने दो मुक्त अभी समृद्ध संसार की औरतों को
फिलहाल संभव नहीं मुक्ति सबकी।"[17]

यह चिंता ही स्त्री-कविता को समकालीन हिंदी कविता की धारा में विशिष्ट बनाती है। निरा पितृसत्तात्मक मूल्यों से लड़ाई ही नहीं, बल्कि स्त्री समाज की सीमाओं से निबटने की आकांक्षा भी स्त्री-कविता की मूल चेतना है।

स्त्री-कविता की मुक्ति की यह लड़ाई साझा संस्कृति और बहनापा के मूल्यों से उद्भूत है। स्वतंत्रता, समानता, भाईचारे के साथ बहनापा को भी अंगीकार करना-करवाना स्त्री कवियों का प्रधान लक्ष्य है। राष्ट्र तथा विश्व पर मंडरा रहे खतरे को स्त्री-पुरुष साझी संस्कृति की गुरुता से ही दूर कर सकते हैं। स्त्री के दृष्टिकोण को जेंडर पूर्वाग्रह से अलगाकर ही उसके महत्त्व को जाना जा सकता है। जेंडर समाज की अस्मितामूलक ईकाई है। अत: जेंडर में समानता की दृष्टि व स्वस्थ चिंतन अत्यावश्यक है।

2. *अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री* / (स्त्री-कविता का अस्मिताचेतस स्वर) : 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री' निर्मला पुतुल की चर्चित कविता है। इस कविता में सामाजिक एवं मानसिक विडम्बना के अंतर्द्वंद्व को उठाया गया है। स्त्री की नियति ही रही कि वह स्वयं को कभी स्वयं की दृष्टि से न देखकर पुरुष-दृष्टि से देखती आई है। पुरुष दृष्टि के मानक पुरुषोचित एवं पुरुषवादी वृत्तियों से अनुप्राणित है। कहाँ रहना है, कैसे रहना है, क्या खाना है, कैसे चलना है, बैठना कैसे है, घर-चौका-चौराहा-बाज़ार आदि सभी स्थान पर पुरुष नियामक के अनुरूप ही स्त्री की स्थिति तय होती है। स्त्री-कविता इस दौर में अपने 'स्व' (self) एवं अस्मिता के प्रति अधिक सचेत है। वह इन पुरुषवादी पारिवारिक-सामाजिक नियामकों से सीधे टकराती हैं; उसकी विद्रूपता को आईना दिखाती हैं और अंततः अपनी एक अलग जमीन तलाशती है जो अधिक ऊर्वर और अधिक सृजनधर्मी हों। रजनी तिलक अपनी कविता 'मेरे भाई' शीर्षक कविता में इस तत्व को, पुरुषवादी कूटनीति को यूं व्यक्त करती हैं: "हर जगह तुम्हारी है / चापलूसी, समझौता, हँसना, / पीना-पिलाना, चित्त-पट्ट, ठेंगा, / मीठा, कड़वा, तीखा, दुनियादारी / सब तुम्हारी, हमारा क्या?"[18] यह प्रश्न उन तमाम स्त्रियों का है जो स्त्रियाँ पुरुष समाज की कल्पित इज्ज़त आबरू के लिए अपनी जान तक गँवा बैठती हैं। इस आश्चर्यवृतांत की ओर लोगों का ध्यान कम ही जाता है कि जिस स्त्री के गर्भ-गृह में नौ माह तक उसके साँसों से साँस लेता, मांसपेशियों से निर्मित होता और अंततः उसके संरक्षण में पलता-बढ़ता है; पुरुष उसी स्त्री को अशुद्ध, अपवित्र और गुलामी की बेड़ियों में कैद कर देता है। उसके लिए समाज में कोई स्वतंत्र स्थान तक नहीं छोड़ता। एक जीवित मनुष्य को, एक उत्पाद, एक शरीर और एक मांस के टुकड़े में तब्दील कर देता है।

कात्यायनी की 'सात भाइयों के बीच चम्पा' और 'हॉकी खेलती लड़कियाँ' दोनों ही कविता में अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री की पीड़ा एवं गंभीरता को देखा जा सकता है। कवयित्री ने 'चम्पा' के माध्यम से निम्नमध्यवर्गीय परिवार में लड़कियों की स्थिति को जीवंत

कर दिया है। चम्पा एक वर्ग-चरित्र का प्रतिनिधित्व करती दिखती है। साथ ही उस पूरी पारिवारिक कामगर दैनिक संस्कृति जिसमें चम्पा अर्थात एक लड़की की नियति क्या है, उसे भी शब्दबद्ध किया है। उन्मुक्तता, स्वतंत्रता और सपनों में स्त्री की उड़ान उसे एक अलग संसार में जा बसाती है। 'हॉकी खेलती लड़कियाँ' जब जीवन के तयशुदा सुरताल से विमुख फ़ाउल खेलती हुई, गोल...गोल चिल्लाती हैं तो वह उसी संसार में आनंदित हो रही होती है। यहाँ वह उन्मुक्त है, स्वतंत्र है। यह वह मानसिक स्थल है जहाँ बेचैन स्त्री अपनी जमीन की तलाश को, अपनी अस्मिता की निश्चल उड़ान को थोड़ी देर के लिए ही सही पूरी करना चाहती है यह जानते हुए कि यह क्षणभंगुरता कुछ ही पलों में समाप्त हो जाएगी : "लड़कियाँ / पेनाल्टी कोर्नर मार रही हैं / लड़कियाँ पास दे रही हैं / लड़कियाँ 'गोल-गोल' चिल्लाती हुई / बीच मैदान की ओर भाग रही हैं / लड़कियाँ एक-दूसरे पर ढह रही हैं / एक-दूसरे को चूम रही हैं।"[19] समाज की बन्दिशों से पृथक लड़कियों का खेलना, हँसना, एक-दूसरे को विजयीभाव से चूमना पुंसवादी मूल्यों पर विजय प्राप्त करना है। कात्यायनी का सम्पूर्ण रचनात्मक लेखन इस पुंसवादी दुराग्रह को तोड़ता नज़र आता है।

अनीता वर्मा, रंजना जायसवाल तथा नीलेश रघुवंशी की कविताओं में भारतीय समाज के निम्नमध्यवर्गीय परिवार तथा उनके सपनों की दास्तान उसके पूरे वातावरण के साथ मौजूद है। इन कवयित्रियों ने निम्नमध्यवर्गीय परिवार को जिया है, भोगा है। अतः स्वाभाविक है कि इनकी कविताओं में उक्त समाज के चित्र और चरित्र की प्रधानता होगी। स्त्री-वजूद की लड़ाई ये कवयित्रियाँ अलग ढंग से लड़ती हैं। इनके समाज का एक वर्ग ऐसा भी है जो स्त्री-सशक्तिकरण से कोसों दूर है- वह निम्नमध्यवर्गीय स्त्री का श्रमिक वर्ग है। कल-कारखानों में मजदूरी करती, साफ-सफाई, घर में आया-नौकरानी आदि भूमिकाओं के अतिरिक्त छोटे-मोटे काम-धंधों के द्वारा अपना गुजारा करती स्त्रियों का स्त्री विमर्श की परिधि में न आना इन कवयित्रियों को विशेष रूप से खटकता है। अतः वे निरंतर इस वर्ग के प्रति सचेत रहती हैं। नीलेश रघुवंशी की कविताओं

में इस वर्ग को विशिष्ट रूपों में देखा जा सकता है। नीलेश 'स्त्री विमर्श' के अभिजात्यवादी-कूलीनतावादी आग्रह पर तंज़ कसती हैं।

नीलेश स्त्री-कविता का वह स्वर है जो पारिवारिक रिश्ते-नातों के साथ स्त्री-पुरुष संबंध को नए मूल्यों के साथ नयी तरह से परिभाषित करना चाहता है। उनकी कविताओं में परिवार के सदस्यों के ऐसे-ऐसे चित्र हैं जो भारतीय समाज के, गाँवों के सहज-सलज भाव को मूर्त कर देते हैं। 'पहली रुलाई तक की डायरी' की इक्कीस कविताएं आधुनिक हिंदी कविता में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। स्त्री के कोख से जुड़े प्रामाणिक आत्मकथ्य हिंदी कविता में पहली बार उभरकर आया है। इसके अतिरिक्त 'माँ', सत्रह साल की लड़की', 'बिना टिकट यात्रा करती लड़की', 'हंडा', 'चबूतरा', 'कैलेंडर', 'एक आशंका के साथ', 'सुंदरियों', 'बुआ का दुख', 'तोड़-मरोड़कर' आदि कविताएं साहित्य, समाज तथा इतिहास में स्त्री के अस्तित्व की, स्त्री के वजूद की कविताएं हैं। यथा: "इस दुनिया को तोड़-मरोड़कर बनानी चाहिए एक नई दुनिया / बेटी जिसमें इतनी पराई न हो।"[20] इस नयी दुनिया की खोज नीलेश के कवि मानस की खोज है। समाज के स्त्री विषयक पूर्वाग्रहों से निजात पाकर ही इस नयी दुनिया का निर्माण संभव है। कवयित्री रंजना जायसवाल भी स्त्री की जमीन तलाशती समाज की नृशंसता को समझती हुई कह उठती है : "स्त्री / ज़िंदगी भर ढूँढती है / सिर छुपाने की जगह / और अंत तक नहीं मिलती अपनी हथेलियों से बेहतर जगह उसे।"[21] समाज के इस मानसिक उपनिवेशीकरण की मानसिकता ने पूरे राष्ट्र की चेतना को अवरुद्ध किया है।

3. *सुनो हमें अनहद की तरह* / (स्त्री-कविता का राजनीतिक स्वर) : स्त्री-कविता का राजनीतिक स्वर जनतांत्रिक मूल्यों को अलग नजरिए से व्याख्यायित-विश्लेषित करता है। कभी यह पर्सनल को पॉलिटिकल बनाता है तो कभी पॉलिटिकल को पर्सनल! विचारधाराएँ यहाँ गुलाल की तरह अपने-अपने रंग लिए आती-जाती हैं। विचारधारा का लोभ अथवा

यथास्थितिवाद स्त्री-कविता की जमीन पर अधिक देर नहीं टिकता। बहनापा, साझा संस्कृति तथा नए जीवन-मूल्यों की तलाश करती स्त्री-कविता का राजनीतिक स्वर संवाद और जनतांत्रिक मूल्यों का प्रसार करता है : "सुनो हमें अनहद की तरह / और समझो जैसे समझी जाती है / नई-नई सीखी हुई भाषा!"[22] कवयित्री अनामिका की कविता 'स्त्रियाँ' से लिया यह काव्यांश न सिर्फ स्त्री-कविता का मूल मंतव्य है अपितु समाज की आधी आबादी का आग्रह भी है। सविनय अवज्ञामूलक राजनीतिक हस्तक्षेप भी। अनामिका का काव्य-संसार स्त्री के मौखिक और लोक इतिहास की सम्पन्नता को भाषा की नयी ऊष्मा से दीप्त करता है। स्त्री के संदर्भ में उनकी संवेदना को नयी भाषा की तरह सीखना, नए लोकतांत्रिक समाज की उत्थान की कोशिश करना है। इस समाज में स्त्री-पुरुष, दास-स्वामी के बजाय हमराही-हमनवा की तरह रहें, समाज को बेहतर बनाने के लिए कृतसंकल्प रहें।

स्त्री-कविता की महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर कात्यायनी, शुभा, नीलेश रघुवंशी आदि ने राजनीतिक स्थितियों एवं विचारधारा के आग्रही तेवर को नया अर्थ दिया है। कात्यायनी साहित्य जगत में घोषित तौर पर राजनीतिक चेतना की कवयित्री हैं। उनकी कविताओं में राजनैतिक उठा-पटक, ऊहापोह, घुटन तथा वैचारिक पतन की ओर जा रही राजनीतिक व्यवस्था पर करारी चोट है। यहाँ सियासी राजनीति पर तंज़ अथवा व्यंग्य ही नहीं, बल्कि साहित्य-संस्कृति-समाज के साथ-साथ देहरी के भीतर चलने वाली अप्रकट राजनीति की भी बात कात्यायनी अपनी कविताओं में करती है। 'सात भाइयों के बीच चम्पा', 'इस पौरुषपूर्ण समय में' और 'जादू नहीं कविता' आदि संग्रहों की कविताएं इस बात का प्रमाण है कि कात्यायनी राजनीतिक सरगरमियों से पूरी तरह परिचित हैं। बतौर सामाजिक कार्यकर्ता विभिन्न राजनीतिक गतिविधियों में शरीक होती हैं, न्याय के लिए शोषितों-वंचितों की आवाज़ को बुलंद करती हैं और अपनी वैचारिक-सामाजिक पक्षधरता स्पष्ट करती हैं: "जब हम गाते हैं तो वे डर जाते हैं / वे डर जाते हैं जब हम चुप होते हैं। / वे डरते हैं हमारे गीतों से और हमारी चुप्पी से भी।"[23]

राजनीति तथा वर्चस्ववादी नीतियाँ हमेशा से भय का आतंक दिखाकर तानाशाही पुरुषवादी तंत्र को पल्लवित करती हैं। कात्यायनी की कविता इस तंत्र के खिलाफ प्रतिरोध का बिगुल ज़ोर-ओ-शोर से बजाती है। कात्यायनी की तरह शुभा पुरुषवाद के राजनीतिक खेल को पूरी वैधानिकता के साथ मटियामेट करती हैं। आज के दम्भी, दलाली जनतंत्र और उसके माफियाओं, भेड़ की खाल ओढ़े प्रबुद्ध जनों को शुभा सीधे-सीधे उनकी क्रूरता और हैवानियत का रूप दिखाती हैं। उनकी ढेरों कविताएं समाज में स्त्री के यौन-शोषण, बलात्कार, हत्या तथा दैहिक-मानसिक प्रताड़नाओं आदि अपराधों से विन्यस्त हैं। कविता अपनी सपाटबयानी शैली में उस अविवेकी, उच्छृंखल राजनीति को बेनकाब करती है। इस विकट दौर में जनतंत्र के तथाकथित मसीहाओं का चुपचाप कुण्डली मार कर बैठे रहना-चुप्पी साधे रहना; कवयित्री को हतप्रभ करता है : "एक बच्ची की लाश दिखाई देती रही / पानी के टैंक में पड़ी / उसके साथ स्कूल में बलात्कार हुआ था / छोटी-छोटी बच्चियाँ दिखाई दीं मातम में बाल खोले / वे रो नहीं रही थीं / चारों ओर फैले थे बच्चियों के भ्रूण / माता-पिता और न्यायधीश / टीचर और मसीहा / पत्रकार और सेनानायक / चले गए थे एक उत्सव में शामिल होने के लिए।"[24] यह भयावह दृश्य इक्कीसवीं सदी के मौजूदा 'जनतंत्र' का है। मुक्तिबोध का स्मरण हो जाना यहाँ स्वाभाविक लगता है। 'अंधेरे में' का वह 'चुप' बौद्धिक वर्ग अब चुप्पी से भी पलायन कर उत्सव मनाने निकल चुका है और जनतंत्र बलात्कृत मृत बच्चियों की भ्रूण की तरह रक्तप्लावित हो चारों ओर फैल चुका है।

शुभा इस भयावहता के प्रति भी अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी निभाती हुई इस अव्यवस्था और असंवेदनशीलता के विरुद्ध अपना आक्रोश प्रकट करती हैं। राजनीति में चल रहे वैचारिक अपराध-तंत्र को शुभा ने अपनी कविताओं में प्रमुखता से व्यक्त किया है। उनकी 'आदमखोर', 'उत्सव के बाहर', 'औरत की जरूरत', 'गैंगरेप', 'जो हम नहीं कहते', 'न्याय-पुरुष', 'विस्मृत

मित्र के लिए कुछ पंक्तियाँ' आदि कविताएं प्रखरता से उस राजनीतिक विवेक को निर्मित करती हैं जो स्त्री-कविता की आवाज़ को, उसकी पक्षधरता को मजबूत आधार देती है।

नीलेश रघुवंशी की कविता बाज़ार-चौराहों पर खड़े अंतिम व्यक्ति की पीड़ा को स्वर देते हुए कविता को न्याय के पक्ष में खड़ा करना चाहती है। उनकी कविता लोकतंत्र में ढह रहे आम आदमी के विश्वास की कविता है। लोकतंत्र में बदहाल आमजन, किसान, मजदूर तथा श्रमिक-वर्ग की स्थितियों के साथ नीलेश हाट-बाज़ार-खदानों में श्रम कर रही स्त्री के चित्र को उकेरती हैं। इस वर्ग की गरिमा का खयाल रखती है कवयित्री! इस वर्ग को केंद्र में रख हो रही राजनीति का पोल-खोल करते हुए कवयित्री इस वर्ग के श्रमशील समुदाय को जागृत करना चाहती है। ग्रामीण-कस्बाई क्षेत्रों में रह रहे यह समुदाय अपने मूलभूत अधिकारों से बेख़बर सामंतों, साहूकारों का शिकार होते हैं। किसानों-मजदूरों, महिला-श्रमिकों की दुनिया लोकतंत्र अथवा जनतांत्रिक मूल्यों से विरत है। नीलेश की कविता किसानी जीवन और निम्नमध्यवर्गीय नौकरी-पेशा में रत आमलोगों की फिरकापरस्ती को कविता में ढालकर एक वैचारिक आधार देती हुई स्त्री-कविता के राजनीतिक स्वर को आगे बढ़ाती है। उनकी कविताओं में किसान, छोटे व्यवसायी, हाट-बाज़ार में श्रम करती महिलाएं तथा यातायात करते नौकरीशुदा लोग एक अलग तंत्र की गवाही देते हैं।

स्त्री-कविता के मजबूत बनते वैचारिक धरातल को सबाल्टर्न चिंतन ने और भी सुदृढ़ किया है। दलित-अल्पसंख्यक समुदाय हो या आदिवासी वर्ग सभी के काव्यानुभवों ने स्त्री-कविता के राजनीतिक स्वर को संपूर्णता प्रदान किया है। धर्म, आस्था की नारकीय और अमानुषिक बेड़ियों ने दलित-आदिवासी जीवन को हजारों बरस तक अँधेरे में रखा। अब यह समुदाय अपनी अस्मिता-अधिकार व आत्म-स्वाभिमान की राजनीति में पूरी प्रतिबद्धता से अपनी बात रख रहा है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे आदि दलित स्त्री-कवियों ने दलित समुदाय की संवेदना को अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। अपने हक़ के लिए-अपने

सम्मान के लिए वे 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' का आह्वान करती हैं। रजनी तिलक स्त्री के प्रति दोहरे-तिहरे मानदंड वाली रणनीतियों से पूरी स्त्री जमात को मुक्त करना चाहती हैं।

आदिवासी स्त्री-कविता के स्वर ने मुख्यधारायी राजनीति की विद्रूपता को पूरी तरह से खोलकर रख दिया है। निर्मला पुतुल का लेखन हिंदी कविता में राजनीतिक चेतना को नयी दिशा और अवबोध देता है। विकास के नाम पर विध्वंश और आदिवासी अस्मिता सम्मान के लिए कवयित्री एक नयी क्रांति की भूमि तैयार कर रही है। लूट-खसोट और हत्या के हिंसक वातावरण में अपने हकों की, मौलिक अधिकारों की बात करना आदिवासियों के लिए मौत का कारण बन जाता है। इसलिए कवयित्री व्यंग्यस्वरूप अपनी आदिवासी बहनों को हक़ की बात कहने से रोकती हैं : "हक़ की बात न करों मेरी बहन / मत माँगों पिता की संपत्ति पर अधिकार / जिक्र मत करो पत्थरों और जंगलों के अवैध कटाई का / सूदखोरों और ग्रामीण डॉक्टरों की लूट की चर्चा न करों बहन।"[25] कवयित्री ने एक साथ अपने समाज के फूहड़ पुरुषवाद और सत्ता-व्यवस्था की दरिंदगी के बीच दम तोड़ती-अपमानित-लांछित होती अपने समाज की स्त्री के चित्र को सामने रख दिया है। स्त्री-कविता का राजनीतिक स्वर उस उच्चादर्श की ओर अग्रसर है जो स्त्री को एक पूर्ण नागरिक के रूप में स्वीकार करें। रेखा सेठी स्त्री-कविता के राजनीतिक स्वर को इसी रूप में देखती हैं : "स्त्री-कविता का राजनीतिक आयाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्त्री की पहचान जब स्त्री से पहले एक नागरिक के रूप में होगी तब स्त्री-पुरुष की बहस अप्रासंगिक होकर स्वयं निरस्त हो जाएगी जो संभवतः जेंडर-न्यूट्रल समाज के निर्माण की पृष्ठभूमि बनेगी। 'जेंडर न्यूट्रल' होने का तर्क यही है कि जन-क्षेत्र में दाख़िल होने के बाद लैंगिक अस्मिता विलुप्त हो जानी चाहिए। आप स्त्री हैं या पुरुष इस बात से कोई अंतर न आए। न किसी के विशेषाधिकार हों, न संरक्षणवादी नीतियाँ। दोनों को एक जैसा समतल मैदान मिले। जीवन और साहित्य में ये समानताएं विकसित हों, यही आदर्श स्थिति होगी।"[26] स्त्री-कविता का राजनीतिक स्वर इन्हीं आदर्शों की ओर बढ़ रहा है।

4. *'मैं किसकी औरत हूँ'* / (स्त्री-कविता का अस्तित्ववादी स्वर) : स्त्री-कविता मूलतः अपनी अस्मिता के प्रति और समस्त स्त्री-जाति की सामाजिक-राजनैतिक अस्मिता के प्रति कृतसंकल्प है। स्त्री-कविता का अस्तित्ववादी स्वर स्त्री के आत्मगत भावों को, उसकी निजता को तथा उसके वजूद को मुखरता से कविता में सिरजता है। गगन गिल, अनामिका, सविता सिंह, शुभा आदि के साथ लगभग सभी स्त्री-कवियों ने स्त्री होने के बोध को कविता में अलग रूपक दिया है जिसमें स्त्रीत्व की भावना को सहजता से देखा जा सकता है। पितृसत्तात्मक सामाजिक ढाँचे में सविता सिंह का यह यक्ष प्रश्न 'मैं किसकी औरत हूँ?' पूरे परिदृश्य में हलचल पैदा करता है। क्योंकि स्त्री का अस्तित्व अब तक समाज में पितृसत्ता के संबंधों से ही जोड़कर देखा जाता था। समाज में औरत का नाम तक सदियों तक गुमनाम ही रहा। वह किसी की बेटी, किसी की पत्नी और किसी की बहू आदि बनकर ही रही। परिवार-समाज में पारम्परिक रूप से औरतों को पुरुषों के अधीन समझी जाने वाले अनाम-अपरिचित चरित्र की तरह चस्पा कर दिया जाता था। यह प्रथा कमोबेश आज भी मौजूद है। औरतों के नाम तक को धूमिल कर उसे संबंधबोधक रिश्तों के निमित्त बनाकर हाशिए पर धकेल दिया गया। आधुनिक चेतना के प्रस्फुटन और शिक्षा-जागृति ने स्त्री होने के अर्थ को धीरे-धीरे बदलना शुरू किया है।

समकालीन कवयित्रियों की एक बड़ी जमात ने पहली बार सामूहिक रूप से स्त्री-जाति के अस्तित्व के प्रश्न को उद्घाटित किया है : "मैं किसकी औरत हूँ / कौन है मेरा परमेश्वर... मैं किसी की औरत नहीं हूँ अपनी औरत हूँ।"[27] यह स्पष्ट आत्माभिव्यक्ति है आधुनिक शिक्षा से लैस आधुनिक स्त्री का पितृसत्तात्मक व्यवस्था के सम्मुख। वर्चस्ववादी ताकतों और मूल्यों से सीधे मुठभेड़ करने वाला यह आत्मकथ्य अपने अस्तित्व-बोध का उद्घोष है। कवयित्री ने स्त्री की स्वाधीन चेतना को स्थापित किया है।

स्त्री-कवियों ने लगातार अपने स्वत्व को कविता के मार्फत खोजने का प्रयास किया है। गगन गिल का सम्पूर्ण काव्य-संसार स्त्री-देह के सांसारिक कार्यव्यापार से भिन्न स्त्री के अन्तःमानस को अभिव्यक्त करते हुए उसे एक दार्शनिक भावभूमि पर ले जाता है। स्त्री-देह के विदेह रूप को; उसके अस्तित्व को गगन ने एक अलग आभा से दीप्त किया है जो संभवतः सम्पूर्ण हिंदी कविता में नवीन अभिव्यक्ति है: "जिस एक काँटे से / बचने के लिए / तैरती रही मछली / समुंदर-दर-समुंदर / उसकी देह में ही छिपा था।"[28] अपने होने के अस्तित्व का भान होना सहज नहीं है। यह एक प्रज्ञाशील चित्त की अवस्था है। गगन गिल सृष्टि के शाश्वत और गतिशील मानवीय सद्वृत्तियों में आस्था रखने वाली कवयित्री हैं। स्त्री-अस्तित्व संबंधी प्रश्न को वे दार्शनिक दृष्टि से देखती-समझती हैं। दुख अथवा वेदना भाव को न सिर्फ स्त्री-जीवन बल्कि मनुष्य मात्र के जीवन के स्थाई भावों के रूप में देखना तथा उसके आधार पर जीवन को समझना, कवयित्री की निजी स्थापना है। दुख को समझना जीवन को समझना है। गगन गिल स्त्री-कविता का शांत-धवल रूप हैं। उनकी कविताओं का मंथर स्वर स्त्री-व्यक्तित्व के चेतनागत पहलुओं को बार-बार उठाता है। उनके चिंतनपरक लेखों में भी आत्मतत्व संबंधी जिज्ञासाओं को देखा जा सकता है।

अनामिका स्त्री-अस्तित्व के प्रश्न पर अधिक मुखर होती हुई दिखती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री का पूरा व्यक्तित्व खुलकर सामने आता है। सामाजिक कुरूपताओं और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रपत्तियों से पृथक स्त्री-जीवन के संदर्भ को अनामिका विशिष्टताबोध से लबरेज़ करती हैं। पुरुषवादी दम्भी-अहंकारी चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए भी कवयित्री सह-अस्तित्व की बात कहना नहीं भूलती है। पुरुष के सम्मुख स्त्री-व्यक्तित्व को समान महत्ता देती हुई वह विभिन्न वैज्ञानिक-लौकिक तथा शास्त्रसम्मत व्याख्याओं को प्रस्तुत करती है। *'स्वाधीनता का स्त्री पक्ष', 'मौसम बदलने की आहट', 'मन मांझने की जरूरत', 'स्त्री विमर्श की उत्तर-गाथा', 'पानी जो पत्थर पीता है'* आदि पुस्तकों में संकलित वैचारिक चिंतनपरक व

मौलिक निबंधों में उनके स्त्री-संबंधी दृष्टिकोणों को विस्तार रूप में देखा जा सकता है। उनके लेखन में सम्पूर्ण स्त्री-जाति का एक उदात्त रूप उभरकर आता है। कवयित्री अनामिका स्त्री-अस्तित्व को एक विराट शक्ति से जोड़ती हैं। ऐतिहासिक एवं मिथकीय स्त्री चरित्रों से एक इतिहास-निर्माण का कार्य सदैव उनकी कविताएं करते दिखती हैं। थेरी गाथा हो या मीरा-अक्कमहादेवी आदि के दाय को स्वीकारते हुए स्त्री-कविता को एक बड़े फ़लक पर विश्लेषित करती हैं। एक स्त्री को वह बड़े रूपक में बांधते हुए कहती हैं : "जो जानता है, मुझे जानता है, / वाणी मैं ब्रह्मांड है कोख में मेरी! / सातों समुंदर मेरा आँचल, / सन-सन बहती हुई सब दिशाएँ मैं, / इस सृष्टि का पहला आँसू, / उद्दीप्त मुस्कान पहली, / हरीतिमा घास की मैं ही, आकाश की नीलिमा, / हिमाच्छन्न हो मेरा मन तो मैं / साधूँ निरंकुश-सी एकदम, / रस-रंग-गंध और ध्वनियाँ इस सृष्टि से बहिष्कृत करूँ।"[29] अपने सर्वोत्तम रूप में आज की स्त्री का यह सबसे उदात्त आत्मबोध है जिसे संसार भर की स्त्रियों ने अपने संघर्ष से अर्जित किया है। स्त्री-जीवन के अलिखित महाख्यान को अभिव्यक्त करती ये पंक्तियाँ स्त्री-अस्तित्व की नींव हैं।

नीलेश रघुवंशी और रंजना जयसवाल दोनों ही कवयित्रियों ने स्त्री-अस्तित्व के प्रश्नों को वर्गभेद से जोड़कर उसे और भी व्यापक रूप दिया है। नीलेश जहाँ स्त्री-अस्तित्व को पारिवारिक-सामाजिक दायित्व के साथ ही चित्रित करती हैं, वही रंजना जायसवाल की कविताएं स्त्री-अस्तित्व को समस्त चराचर प्रकृति जगत से जोड़कर देखती हैं। उनके एक संग्रह का नाम ही है – 'स्त्री प्रकृति है'। दोनों ही कवयित्रियों की कविताओं ने स्त्री-कविता के मूल आशयों को और भी स्पष्ट किया है।

नीलेश की कविता निम्नमध्यवर्गीय परिवार से निकली स्त्री की प्रामाणिक रचनात्मक दास्तान के विभिन्न रूप को अधिक सूक्ष्म रूप में देखती है। नीलेश अपनी पूरी रचनात्मकता में वर्गभेद और अस्तित्व के सवालों को सहज ढंग से उठाती हैं : "एक स्त्री ने स्त्री को जन्म दिया / स्त्री की स्त्री से नाल / एक स्त्री ने काटी / एक स्त्री ने / स्त्री को ज़मीन में गाड़ दिया / पितृसत्ता का

कैसा भयानक कुचक्र कि / स्त्री ने ही स्त्री का समूल नाश किया।"[30] कविता विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखती है। पितृसत्ता के भयानक कुचक्र की दुनिया में अपने वजूद को स्थापित करना चुनौती भरा काम है। रंजना जायसवाल भी इस भयानक कुचक्र की ओर इशारा करती हैं। उनका लहजा और भाषिक विन्यास और भी गंभीर और मारक हो जाता है। 'बोनसाई' पौधा की चाहत के विरुद्ध उसे कृत्रिम स्वरूप में ढालना और सौन्दर्य सामग्री में तब्दील करना, उसके अस्तित्व को कचोटता है : "जब भी मैंने बाहें फैलानी चाहीं / कस दिया तुमने धातु के तार में / कैंची चलाई मेरी पीड़ा सुने बगैर / पक्षी नहीं आते घोंसला बनाने / मेरी बाहें सूनी रह जाती हैं / तुम्हारे ड्राइंगरूम की शोभा बना मैं बोनसाई / तुम्हारी इच्छाओं का दास।"[31]

स्त्री को उसके अस्तित्व से अलगाकर उसकी देह को शोभा या पण्य-वस्तु में परिवर्तित करने का काम बीते तीन-चार दशकों से ज़ोर-ओ-शोर से हो रहा है। वैश्वीकरण की नीतियाँ और बाजारवादी फैशनपरस्त संवेदनहीन फिजा ने स्त्री-देह का उपभोग बखूबी किया है। अनीता वर्मा की कविताओं ने बाज़ार में आई 'स्त्री' के उपभोग को देखा-समझा है। स्वतंत्रता की एक अलग विच्छृंखल परिभाषा गढ़ती बजारवादी ताकतों ने भी स्त्री के रूप और यौवन तक ही स्त्री-जीवन को निबद्ध कर रखा है 'खुले बाज़ारों में ऐसा कुछ भी नहीं दिखता / जहाँ मैं अपने होने को महसूस कर सकूँ / वहाँ इतनी रोशनी है कि कोई रोशनी नहीं दिखती।"[32] बाजारवादी धुंध में स्वयं को खोज पाना प्रायः असंभव है। वहाँ मनुष्य की पहचान केवल एक क्रेता या उत्पाद की होती है। स्त्रियों के लिए बाज़ार किसी मोहजाल-भ्रमजाल से कम नहीं।

हाशिए के विमर्श (दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि) का सम्पूर्ण लेखन ही अस्मिता व अस्तित्व को संबोधित सामाजिक समता व न्याय का लेखन है। दलित स्त्रीवाद की प्रखर प्रवक्ता रजनी तिलक हों या सुशीला टाकभौरे आदि कवयित्रियों ने समतामूलक समाज की परिकल्पना को नए सिरे से शब्दबद्ध किया। सदियों से अचर्चित-अवर्णित आदिवासी

समुदाय हिंदी कविता की नयी दिशा है जिसके अनुभव-परिवेश और भाषिक-विन्यास स्त्री-कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण खुसूसियत है।

5. *'तन के भूगोल से परे'* / (स्त्री-कविता का आंदोलनधर्मी स्वर) : स्त्री-कविता का आन्दोलनधर्मी स्वर स्त्री विमर्श एवं स्त्री-लेखन पर लगने वाले आरोपों का निस्तार करता है। स्त्री विमर्श अथवा स्त्री-लेखन को उसके देह विमर्श अथवा कमतर लेखनी या सीमित लेखन मानने वाले नामवर आलोचकों-पाठकों के लिए अहिंसात्मक आन्दोलन के सदृश्य है। स्त्री-कविता वहाँ भी आन्दोलन का रूप ग्रहण करती है जहां वह पारम्परिक-सामाजिक तयशुदा स्त्री की भूमिका निर्वाह से पृथक व्यवहार करती है या शिक्षा-रोजगार आदि में असमानता का आलम रहता है। कात्यायनी और शुभा जैसी कवयित्रियों ने स्त्री-कविता को आन्दोलन (अहिंसक) की चेतना से जोड़ने का प्रयत्न किया है। कात्यायनी और शुभा केवल लेखन के स्तर पर ही नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में भी चेतना की मशाल लिए चलती हैं। वैचारिक धरातल पर संपुष्ट ये कवयित्रियाँ आम जनमानस की आवाज़ भी बनती हैं। कात्यायनी का विचारात्मक लेख भी एक ठोस वैचारिक आधार लेकर चलता है।

कात्यायनी के लगभग छह काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं : 1. सात भाइयों के बीच चम्पा (1994), 2. इस पौरुषपूर्ण समय में (1999), 3. जादू नहीं कविता (2002), 4. राख़-अँधेरे की बारिश में (2004), 5. फुटपाथ पर कुर्सी (2006), 6. एक कुहरा पारभाषी। कात्यायनी की कविताएं सत्ता के दुष्चक्र और आदमी के साथ स्त्री समुदाय की दुरावस्था का चित्रण प्रमुखता से करती हैं। उनकी कविताओं का शिल्पगत वैशिष्टय पूर्णतया मलंग भाव-सा है। गहरी व्यंग्य की शैली में लिखी गई उनकी कविताएं एक नए शिल्प को जन्म देती हैं। एक गहन अध्येता की भाँति कात्यायनी विश्व साहित्य के प्रगतिशील लेखकों-कवियों की चेतना को आत्मसात कर उनसे ऊर्जा संचय करती हैं। लोर्का, तोल्स्तोय, नाज़िम हिकमत, ब्ला. लेनीन, लू शून तथा

पाब्लो नेरुदा आदि उनकी मानसिक काव्य-यात्रा में सदैव रहते हैं। देश-प्रदेश में विगत दशकों में हुए भ्रष्टाचार, सत्ता-परिवर्तन, वैश्वीकरण के ध्वंश आदि ने पूरे जनमानस को और अधिक गुलाम बना दिया। कात्यायनी की कविता इन्हीं असमानताओं, पूंजीवादी कुचक्रों, वैचारिक उद्वेलनों और स्त्री-पुरुष संबंधों की राजनीति को शब्दबद्ध करती है। कविता कात्यायनी की सहयात्री ही नहीं, दैनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'सात भाइयों के बीच चम्पा' से लेकर 'फुटपाथ पर कुर्सी' तक की कविताएं उनकी काव्य यात्रा विचार की यात्रा है। जनपक्षधरता एवं जनवादी चेतना की यात्रा है तथा स्त्रीत्व की निरंतर नयी पहचान की यात्रा है। समय से बौद्धिक संवाद की यात्रा है। कात्यायनी निरंतर व्यक्तिगत-सामाजिक और राजनैतिक जीवन की गहरी काव्यात्मक पड़ताल अपनी कविताओं में करती हैं। चिंतन और चेतना दोनों ही स्तरों पर कवयित्री राज्यसत्ता के ढकोसलों का प्रतिरोध करती है। उनकी कविता से निर्मित स्त्री सारे घटाटोपों से निकलकर समाज की तथाकथित मर्यादित-असंसदीय भावनाओं की धज्जियाँ उड़ाती है। राजनीति हो या साहित्य हो अथवा लोक-जीवन आदि सभी स्थानों पर उनका व्यंग्य देखते बनता है। सहज सरल शब्दों में जटिल परिवेश को आकार देना कात्यायनी के कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता है : "समझना है कि / यह हत्यारा किन औज़ारों का / इस्तेमाल करता है / हत्या के लिए / और / हत्या करता किसकी है?"[33]

कात्यायनी की भाँति ही कवयित्री-चिंतक शुभा की कविता वर्तमान जीवन के कटु यथार्थ की कविता है। उनकी दृष्टि पौरुषपूर्ण समय में बढ़ते स्त्री-द्वेष और जघन्य अपराध पर बार-बार जाती है। स्त्री के प्रति जघन्यतम हिंसा के बोध से पूरा स्त्री-लेखन भरा पड़ा है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस हिंसा के कई स्तर हैं चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक या भाषिक! सभी ने स्त्री-व्यक्तित्व को विघटित किया है। हिंसा की पौरुषिक मानसिकता पर शुभा गहरा क्षोभ प्रकट करती हैं। पुरुष की 'आदमखोर' वृत्ति को तथा उसकी टुच्चे मर्दानगी को शुभा ने समाज के समक्ष नग्न रूप में प्रस्तुत किया है : "आदमखोर उठा लेता है / छह साल की बच्ची /

लहूलुहान कर देता है उसे / अपना लिंग पोछता है / और घर पहुँच जाता है / मुंह हाथ धोता है और / खाना खाता है / रहता है बिल्कुल शरीफ़ आदमी की तरह / शरीफ़ आदमियों को भी लगता है / बिल्कुल शरीफ़ आदमी की तरह।"[34] शराफ़त का चोला ओढ़े शरीफ़ वर्ग के विक्षिप्त पुरुष वर्ग यौन हिंसा को अपना अधिकार समझता है। इस आपराधिक वृत्ति के खिलाफ़ कवयित्री एक मोर्चा तैयार करती है और उसे आन्दोलन का रूप देना चाहती है।

कवयित्री अनामिका लगातार अपनी कविताओं के साथ-साथ चिंतनपरक लेखों के माध्यम से स्त्री-आन्दोलन को समाज के वृहत्तर मुद्दों से जोड़ते हुए उसे दुनिया का इकलौता अहिंसक-सविनय अवज्ञा आन्दोलन बताती हैं। उनकी ढेरों कविताएं इस अहिंसक विचारनुमा हथियार के साथ सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अग्रसर है। वह एक बराबरी भाव के लिए समस्त पुरुषवादी सत्ता को संबोधित करते हुए कहती हैं: "नहीं चाहती स्त्रियाँ किसी धन पर / एकाधिकार किसी का, / चाहती हैं कि ले मर्दजात / सद्गुणों के स्त्री-धन में / अपना भी हिस्सा बराबर का।"[35] अनामिका के लिए स्त्री-कविता का पूरा स्वर ही आन्दोलन की भावना से प्रेरित है। यह आन्दोलनधर्मी स्वर एक तरह का हृदय परिवर्तन और सविनय अवज्ञा के सदृश्य है जो सत्ता या व्यवस्था परिवर्तन से अधिक सह-अस्तित्व और सामांजस्य-भाव की अपेक्षा रखता है।

सविता सिंह भी अपनी कविताओं में भाव-विचार के स्तर पर प्रतिरोध की एक नयी धारा निर्मित करती हैं। स्त्री-मानस का प्रतिबिम्बन उनकी कविताओं में निरंतर बनता-बिगड़ता रहता है। एक मनोवैज्ञानिक वैचारिक उद्वेलन से सविता सिंह अपनी कविताओं में आत्मसंघर्ष करती हैं और एक प्रतिसंसार का निर्माण, अपने मौजूदा संसार को दुरुस्त करने के लिए रचती हैं। प्रतिसंसार का निर्माण एक यूटोपिया/आदर्श है जहाँ से कवयित्री समस्याओं के समाधान हेतु आत्ममंथन-आत्मलोचन करती है। अपने संसार से संघर्ष के लिए हमेशा तैयार रहती है: "मैं जान रही थी अब / आखेट के लिए बुलाता है अगर कोई मुझे / नहीं है भागना / शामिल होना

है इस खेल में / आखेटक से डरना नहीं / यदि बचे रहना है।"[36] कवयित्री अपने हिस्से की लड़ाई के प्रति सचेत है। आखेटक का प्रतिआखेटक रचती कवयित्री ने चुनौती की भाषा को भी आत्मसात कर लिया है। आखेट आखेटक यहाँ स्त्री-पुरुष संबंधों का व चरित्रों का नवीन बिम्ब है। स्त्री की नियति यहाँ मुक्तिकामी रूपक में संवलित है। यह आत्मविश्वास से लबरेज स्त्री अपनी मुक्ति और स्वतंत्रता को बख़ूबी पहचानती है। सविता सिंह की कविताओं का सम्पूर्ण परिवेश अपने समाज में आमूलचूल परिवर्तन हेतु आतुर है। एक नए यथार्थ की निर्मिति में सम्पूर्ण समाज को देखना तथा बदलाव की आकांक्षा रखना उनके कवि-हृदय की मौलिक विष्टिता है।

हाशिए के विमर्श की स्त्री-कविता की बात करें तो यहाँ पूरा लेखन ही आंदोलन की मशाल लिए चल रहा है ; चाहे वह दलित स्त्रीवाद से प्रभावित कविताएं हो या आदिवासी अस्मिता-संघर्ष की! दलित स्त्रीवाद अम्बेडकरवादी विचारधारा से काफी प्रभावित है। दलित समाज तथा दलित समाज की स्त्रियों के सम्मान एवं बौद्धिक आर्थिक प्रगति के लिए रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' आदि कवयित्रियों ने अपने समाज को संवैधानिक मूल्यों के प्रति बराबर सचेत किया है। उनकी कविताओं में क्रांति के संदेश को सहजता से देखा जा सकता है। जातीय विद्वेष और ब्राह्मणवादी षडयंत्रों में पिस रहे दलित समाज को सुशीला टाकभौरे की कविताएं सीधे-सीधे अपनी संवेदना के दायरे में लेती हैं। मनुवादी सामाजिक ढाँचे को तोड़ने का आह्वान कवयित्री आत्मकथात्मक स्वर में करती है : "पंख मेरे फड़फड़ाते हैं / तोड़ने / प्रत्येक पिंजर / शृंखलाएँ / तिनकों सरीखी! / मैं तोड़ देना चाहती हूँ।"[37] सफलता की मंजिलों को पाने के लिए इन शृंखलाओं-पिंजरों को तोड़ना ही होगा। मनुवादी-पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री-जीवन को पुरुष के हाथों का खिलौना बना दिया है। अतः इसका प्रतिकार आवश्यक है। जाति व लिंग के आधार पर सदियों से शोषण को-गैर बराबरी को उचित ठहराने वाले आर्ष ग्रन्थों पर भी दलित-स्त्रीवादी लेखन अपनी असहमति व्यक्त करता है। इसी तरह आदिवासी समाज के हाशियकरण पर भी आदिवासी-लेखन ने तथाकथित मुख्यधारायी समाज

के पूर्वाग्रही-नस्लभेदी विचार-व्यवहार के खिलाफ मुखर होकर आवाज़ उठाती है। उनकी भाषा-संस्कृति-आचार-विचार आदि को अविकसित साबित करने की घृणित राजनीति और विध्वंशात्मक विकास की छद्मी योजनाओं ने उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व को ही संकट में ला खड़ा किया है। आदिवासी स्त्री-कविता इन पहलुओं पर बारीकी से प्रहार करते हुए अपनी प्रतिबद्धता घोषित करती है। निर्मला पुतुल की कविताएं आदिवासी समाज के भीतर और बाहर दोनों ही परिवेश में होने वाली यंत्रणादायी रीति-नीति के खिलाफ जिरह करती दिखती हैं : "मैं चाहती हूँ / मेरे शब्दों की जमीन से / उगें कई-कई बिरसा मुंडा / अपने आसपास तनकर खड़े / ताड़-खजूर के पेड़ों को / सिदो-कान्हू में बदलते / देखना चाहती हूँ मैं... अपने शब्दों, और / धनुष की तनी डोर पर / तीर की तरह तना देखना चाहती हूँ अपना कोई वाक्य।"[38] अपनी जातीय अस्मिता के प्रति क्रांति का यह उद्घोष आदिवासी स्त्री-कविता का प्राणतत्व है।

6. *'अब बाज़ार स्त्री के कदमों में है'* / (बाजारवादी जहालतों से जिरह करती स्त्री-कविता) : व्यापार के लिए मुक्त विश्वबाज़ार ने भारतीय उपमहाद्वीप में पितृसत्ता समर्थक पूंजीवादी ताकतों को पुनः नए लिबास में मजबूती से पुनर्जीवित करने का काम किया। भारत में नए मध्यवर्ग का जन-समुदाय उसकी बड़ी ताकत बनी। उत्पाद-उत्पादन संबंध ही मानवीय संबंधों की अर्हता बनने लगी। शिक्षित-अशिक्षित स्त्री-समाज को बाज़ार ने सबसे अधिक आकर्षण का केंद्र बनाया। रसोईघर हो शयन कक्ष या घर-परिवार-हाट-बाज़ार आदि सभी केन्द्रों की घोषित सर्वेसर्वा बनाकर उसके श्रम को उसके जेंडर के साथ सन्नद्ध कर दिया गया। सबसे दिलचस्प चीज़ यह रही कि उसे कभी अपनी अभिव्यक्ति का मौका ही नहीं दिया गया। स्क्रिपटेड कथन ही उसके हाथ लगी और देखते ही देखते बाज़ार में अन्य वस्तुओं की तरह स्त्री-देह भी पण्य बना दी गई। यथा: "अब बाज़ार स्त्री के क़दमों में है / उसके केश सहलाता उतारता कपड़े / सामान कोई भी हो बेच जाती है हमेशा स्त्री / वह बाज़ार को ले आती है घर में / ... ख़रीदनी

है अगर दवा तो देखो स्त्री को / दर्द से ज़्यादा असरदार है उसकी कमर / तेल से ज़्यादा सुंदर है केश कपड़ों से ज्यादा देह।"[39] अनीता वर्मा की ये पंक्तियाँ घर में घुस आये बाजारवादी वितृष्णा को बड़े सरल ढंग से परिभाषित करती हैं। इसकी गिरफ़्त में फंसा स्त्री-वर्ग एकबार पुनः पितृसत्ता के खेल का शिकार बन जाता है।

स्त्री-कविता की यह ख़ूबी है कि वह अपने समाज-राष्ट्र की दोहरी नीति को बहुत जल्दी ही भाँप गई। इसलिए स्त्री-देह को लेकर हो रहे बधियाकरण के खिलाफ तथा राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय दबाव के कारण पब्लिक स्पेस में स्त्री-वर्ग के लिए कुछ बेहतर माहौल बना। कार्यस्थल पर यौन-उत्पीड़न संबंधी क़ानूनों का सख़्ती से पालन आदि इसके उदाहरण हैं। हालांकि स्त्री-हिंसा के आँकड़ों को रोकने में किसी तरह के कानून पूर्णतः कारगर नहीं हो सके। बाज़ार और टेलीविज़न-विज्ञापन आदि की दुनिया ने चलचित्रों-फ़िल्मों आदि के माध्यमों से समाज के जेंडर्ड स्ट्रक्चर को थोड़ा सुधारने की दिशा में काम जरूर किया। लेकिन यह कार्य वहीं तक सीमित रहा, जहाँ तक बाज़ार को इसकी जरूरत थी। स्त्री को एक नया छद्मी रूप (सौंदर्य प्रसाधन से सुसज्जित 'बेबी डॉल') देकर उसे पूरी तरह पण्य (commodity) वस्तु में परिवर्तित कर दिया गया। बाह्य सौंदर्य ने स्त्री की अंतरात्मा को दफ्न कर दिया। यह कार्य एक साजिश के तहत ही किया गया। फैशन सामग्री का बाज़ार सजा और स्त्रियाँ उसकी सबसे बड़ी ग्राहक/एजेंट बनीं! टेलीविज़न के पर्दे ने विश्व-समाज (भारतीय समाज भी) के सभी वर्गों को इतने गहरे स्तर पर प्रभावित किया कि वह प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं की विश्वसनीयता का मानक बन गया। टी.वी. पर दिखाए जाने वाले विज्ञापन ही आमजनमानस का विश्वासपात्र बन गए। नौवें दशक से ही स्त्री-लेखन ने इस बहुरूपिया माध्यम की लाभ केन्द्रित लिप्सा को पहचान लिया था। इक्कीसवीं सदी का प्रारम्भ और बाजारवादी विज्ञापनों की होड़ स्त्री को जिस आदर्श की ओर बार-बार धकेल रही थी कमोबेश वह पितृसत्ता समर्थक स्त्री का आदर्श ही था जिसमें स्त्री के यौवन और रूप-सौंदर्य का ही महत्त्व था। नया ओढ़ा हुआ यह रूप और झूठ को सच

की तरह बोलने की कला बाज़ार ने स्त्री को उपहार के रूप में दिया। नीलेश रघुवंशी की 'फेशियल' कविता बाजारवादी तंत्र में स्त्री की अहमियत व कैफ़ियत को स्पष्ट करती है : "फेशियल करातीं औरतें करती हैं बातें, बाजार के रौनक की / करती हैं बहस, मोल-भाव में व्यस्त उनके मन / चेहरे पर लेप लग जाने के बाद देती है ब्यूटीशियन हिदायत / बात मत करो"[40] इसमें संदेह नहीं कि बाजार ने स्त्री-देह के रूप-सौंदर्य और घरेलू-कामकाजी-गृहणी रूप को आवश्यकता से अधिक महिमामंडित किया। यहाँ यह भी तथ्य ध्यान देने योग्य है कि बाजार ने पूरी तरह स्त्री-रूप और देह को अपने लाभ के लिए भुनाया। लगातार अत्याधुनिक घरेलू प्रयोग के उपकरणों ने महिलाओं के शारीरिक श्रम को थोड़ी सहूलियत और आराम जरूर दिया। दूसरे शब्दों में कहें तो बाजारवादी संस्कृति और सुविधाओं ने पूरे विश्व को अपना मुरीद बना लिया है। इससे मुक्ति बहुत मुश्किल है।

स्त्री-कवियों में अनामिका, कात्यायनी तथा सविता सिंह आदि बाजारवादी वातावरण में स्त्री-देह के पण्यीकरण पर मुखरता से अपनी बात रखती हैं। घर के परिवेश तथा स्त्रियों के आपसी रिश्ते जिसमें मौसी-चाची, दादी-नानी, बुआ-ननद, सास-बहु आदि के आधारभूत संबंधों को भी बाजार ने अपनी तरह प्रभावित किया। अनामिका ने अपनी कई कविताओं में इन बदलते संबंधों और परिवेश की ओर इशारा किया है। इस नयी बाजार-संस्कृति ने स्त्रियों के आदि ज्ञानस्रोत जो उसे इन संबंधों से दाय रूप में मिला था ; जिनसे जीवन के मूल्य बनते-सँवरते बेस्वाद ज़िंदगी में थोड़ा-सा स्वाद आ जाता था, उससे स्त्रियाँ विरत हो गई ; "बीसवीं शती का कूड़ागाड़ी / लेती गई खेत से कोड़कर अपने / जीवन की कुछ जरूरी चीजें- / जैसे मौसीपन, बुआपन, / चाचीपंथी और अम्मागिरी मग्न / सारे भुवन की।"[41] यही नहीं बढ़ती आधुनिकता और पूँजी की झोंक ने इनके लिए वृद्धा आश्रम अथवा ओल्ड एज होम का रास्ता खोल दिया। परिवार एकल से अणु की स्थिति में आ पहुँचा। घर की अम्मागिरी, चाचीपंथी, मौसीपन आदि संबंधों ने हमारे सांस्कृतिक मानस को, दैहिक-मानसिक प्रज्ञा को अपने अनुभव

की तेल-मालिस से सींचकर-खींचकर हमारी हड्डियों-मांसपेसियों को खड़े होने लायक, चलने लायक तथा आत्मरक्षा करने लायक तैयार किया है। आधुनिकता की प्रचंड आँधी एक झटके में इसे उड़ा ले गई। लगभग सभी कवयित्रियों ने नितांत जातीय स्मृतियों को अपनी कविताओं में स्मरण किया है। सविता सिंह की 'रोती है सुप्रिया', 'विमला की यात्रा', 'नमन करूँ छोटी बेटियों को', 'माँ की याचना', 'पुराना संदूक', 'स्त्री सच है', 'स्त्री होने का संकट', 'अद्वितीय नाच', 'मैं कथा कहूँगी', 'नया नाच' आदि और भी दर्जनों कविताओं का पाठ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। अपनी अस्मिता की खोज में निकली स्त्री की नियति को एक ख़ास रूपक 'खूब लड़ी मर्दानी' जैसे पुरुषोचित अलंकरणों से नवाजना और उसके संघर्ष को, उसकी मौलिकता-उपादेयता को दरकिनार करना, एक साजिश के तहत ही किया जाता रहा। कवयित्री सविता सिंह बाजारवादी स्त्री के खिलाफ इस षड्यंत्र की महीनता को बड़ी बारीकी से पहचानते हुए 'नया नाच' शीर्षक कविता में लिखती हैं : "शायद बहुत पहले तय कर चुका था बाज़ार / इन लड़कियों की नियति / बना चुका था ख़ुद को एक विशाल नाच घर / जिसमें नाचना था इनको जीवन भर / बेचने थे उसके उत्पाद उन्हीं में तब्दील होकर।"[42] कथित तौर पर स्त्री-मुक्ति के पितृसत्तात्मक संस्करण ने एक नए तरह के विमर्श को जन्म दिया है जिनसे लगातार बौद्धिक संवाद कायम है।

कात्यायनी ने अपने लेखों के माध्यम से बाजारवादी नीतियों के पीछे काम कर रही पूंजीवादी अर्थ-तंत्र की संरचना को दिखाया है। उनकी कविताएं भी बाजारवादी जहालत की पड़ताल बखूबी करती हैं। इस समय को 'पौरुषपूर्ण समय' बनाने में बाजार तथा पूँजी का बड़ा योगदान है। रंजना जायसवाल 'बाजार' के रूपक को जिस गहराई से समझती हैं उसी की सरल अभिव्यक्ति उनकी 'बाजार' शीर्षक कविताओं की सीरीज है। जरूरत को पैदा करना उसे पूरा करना और फिर आदि बनाकर तटस्थ हो जाना बाजार की नियति है। यहाँ मनुष्य, मनुष्य नहीं बस एक खरीददार/ ग्राहक/ उपभोक्ता बनकर रह जाता है। मौजूदा हालात में व्यक्ति बाजार आने

को उससे जुड़े रहने के लिए अभिशप्त है : "बाज़ार / एक चरखा- / कत रहा जिसमें / सूत की तरह आदमी।"[43] जरूरत को पूरा करना एक बात है और वस्तु को बनाकर जरूरत पैदा करना दूसरी बात। आज बाजार ने दूसरी विधि अपना ली है और वह दृश्य-श्रव्य माध्यमों द्वारा चौबीसों घंटे दर्शकों/उपभोक्ताओं के मनो-मस्तिष्क में उतार रहा है। क्रय-विक्रय, उत्पाद-उत्पादन ही बाजार का अभीष्ट है। इस अर्थ में बाजार ने मानवीय संबंधों को भी प्रभावित किया है।

7. 'औरत-औरत में अंतर' / (अस्मितावादी विमर्श की कविताएं) : तमिल दलित कवयित्री स्वरूपारानी की कविता 'घर में पुरुष-अहंकार एक गाल पर थप्पड़ मारता है / तो गली में वर्ण-आधिपत्य दूसरे गाल पर' सम्पूर्ण स्त्री-कविता के आत्मगान को समझने की पहली कुंजी है। अछूत होने के दंश को अनुभूत करना दुष्कर हैं। इस अर्थ में दलित-आदिवासी वर्ग की अभिव्यक्तियाँ समाजशास्त्रीय अध्ययन की मांग करती है। कलात्मक ऊँचाई न होने पर भी इन कविताओं को नए और स्वच्छ मानसिकता की आवश्यकता है। स्त्री-कविता की एक दूसरी परत यहाँ दृष्टिगत होती है। मुख्यधारायी समाज की स्त्री-अस्मिता और हाशिए पर जीवन-बसर करने वाली स्त्री की अस्मिता, दोनों ही वर्गों की चुनौतियाँ अलग हैं। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजनी अनुरागी और आदिवासी कवयित्रियों में निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, जसिन्ता केरकेट्टा आदि कवयित्रियाँ इस द्वैत भाव विचार को बेहतर समझती हैं। सार्वभौम भगिनीवाद (Universal Sisterhood) अथवा बहनापा का भाव इन्हें आपस में जोड़ता जरूर है पर दोनों ही वर्ग के संघर्ष भिन्न हैं और एक हद तक हाशिए के समाज का स्त्री वर्ग दोहरे शोषण का शिकार बनता है।

रजनी तिलक की 'फर्क' कविता में दोनों ही वर्गों के वैषम्य को स्पष्ट देखा जा सकता है: "तुम्हारे मेरे बीच / जमीन आसमान का फर्क है / तुम लड़ती हो / अपनी पहचान के लिए / लड़ती हूँ मैं / स्वाभिमान के लिए... तुम्हारे मेरे संघर्ष में / यही है बुनियादी फर्क / मैं गंदे झोपड़े

में पैदा हुई / तिल-तिलकर यहीं बड़ी हुई / होश संभालते ही / मैंने जी-तोड़ मेहनत की / तुमने स्कूल की दहलीज में हवा पाई!... मैं हर रोज लड़ती हूँ अपने आपसे / अपने संस्कार व तुम्हारी दया से।"[44] इस पूरी कविता में उपेक्षा भाव से मिली पीड़ा की द्रवित पुकार है बावजूद इसके कवयित्री किसी प्रतिशोध की आकांक्षा नहीं रखती। कविता की अंतिम पंक्तियों में इस वर्ग-विभेद, कृत्रिम-अमानुषिक-अप्राकृतिक असमानता को पाटने की लालसा है। इसी तरह का भाव लिए 'औरत-औरत में अंतर' आदि कविताओं में भी कवयित्री सामाजिक अनुभवों की एक अलग रूपरेखा प्रस्तुत करती है।

स्त्री-कविता में अभिव्यक्त हाशिए के समाज का अनुभूत यथार्थ उस समाज में स्त्री की अवस्थिति को नए सिरे से चर्चा के केंद्र में लाता है। अपने महानायकों से वैचारिक ऊर्जा और सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष से ऊर्जस्वित हो दलित-आदिवासी समाज विगत चार-पाँच दशकों में कुछ उपलब्धियों को हासिल जरूर कर लिया है। यह समाज व्याघातों को झेलते हुए भी प्रगति के पथ पर बढ़ चुका है। लेकिन इस प्रगतिगामी महिलाओं के श्रम और संघर्ष को भुला दिया गया। अतः दलित-आदिवासी समाज की स्त्रियां अपने उत्थान हेतु स्वयं ही 'कलम को तीर' बनाकर आजादी का उद्घोष कर चुकी हैं। बुद्ध-अम्बेडकर-ज्योतिबा-फुले से प्रेरणा लेते हुए स्त्री-समुदाय को संगठित कर रही हैं। सुशीला टाकभौरे की कविताएं इस दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को क्रमवार ढंग से उठाती हैं। अम्बेडकरवादी विचारधारा उनकी कविताओं की प्राणशक्ति है और डॉ. भीमराव अम्बेडकर उनके आइकॉन। सामाजिक न्याय, समता, बंधुत्व और प्रगति के लिए कवयित्री सुशीला टाकभौरे की कविता सीधे बहुजन समाज को संबोधित है : "संघर्ष की राह / सिखाती है / सम्मान के साथ जीना / युगों-युगों तक!"[45] ये काव्य-पंक्तियाँ एक तरह से कवयित्री के काव्य-मानस के मुख-पत्र है। कविता को रसनिधि-लोकरंजन-मनोरंजन आदि बनाने के स्थान पर 'श्रम से उपजे पसीने की बात' तक ले जाना कवयित्री के लिए अधिक श्रेयस्कर है।

सुशीला टाकभौरे का पूरा लेखन ही दो स्तरों पर चलता है - प्रथम स्तर पर वह सामाजिक विषमता, सदियों की तानाशाही-अपमान-दरिद्रता को प्रस्तुत करता है और दूसरे स्तर पर कवयित्री अपने समाज की भावी पीढ़ी को अर्थात नयी पीढ़ी को लगातार अभिप्रेरित करने का काम करती दिखती है। नए पथ पर अग्रसर होने के लिए, अपने खिलाफ हो रहे षड्यंत्र को पहचानकर उनसे संघर्ष के लिए तत्पर होने के लिए तथा वैज्ञानिक चेतना के साथ अपने समाज को आगे बढ़ाने के लिए अपने समय की चुनौतियों एवं संभावनाओं को अवसर में बदलना होगा। कवयित्री की ऐसी ढेरों कविताएं हैं जो समाज के भावी प्रतिनिधि युवा शक्ति और उनकी बौद्धिकता को निवेदित है। 'जीवन व्यापार', 'समष्टि का संतान', 'आग की शक्ति', 'स्वयं को पहचानो', 'ऊगते अंकुर की तरह जीना है', 'ज्योतिदूत बन जाओ', 'ठहरों नहीं आगे बढ़ो', 'चुप रहकर सोचों' आदि कविताएं युवा मन को उद्दीप्त करने वाली कविताएं हैं। युवा जोश और ताजगी से सम्पन्न एक नए कल की आस इन कविताओं का स्वप्न है। स्त्री के प्रति भी वैसी ही मानवीय गरिमा जो उसे सावित्रीबाई फुले के जीवन-संघर्ष से मिलती है। स्त्री-पुरुष संबंध के नियामक को भी कवयित्री ज्योतिबा-सावित्रीबाई फुले से जोड़ती है। असंतुलित स्त्री-पुरुष संबंध को सहृदयता-मित्रता आदि भावों से ही संतुलित किया जा सकता है और इस संतुलन में ही समाज का उत्थान संभव है। कवयित्री इसी उम्मीद से कहती भी है : "करती हूँ तुमसे आशा / लौटा दो मेरा विश्वास, / सहृदय मित्र बनकर मेरे / चलने दो मुझको भी साथ। / बन जाओ ज्योतिबा फुले / मैं सावित्री बनकर / अर्पित कर दूँगी जीवन / पीड़ाओं के उन्मूलन में।"[46] जीवन का एक आदर्श जो बेहतर जीवन को बनाने के लिए प्रेरित करे। सुशीला टाकभौरे बेहद मामूली, बेहद सहज जीवन के ब्योरे से कविता को उन जगहों तक पहुंचाती हैं जो कई बार जीवन की आपाधापी में अदीखा रह जाता है। अपने चारों काव्य संग्रह की कविताओं में कवयित्री स्वयं भी 'अत्तदीपभवः' की मुद्रा में दिखती है। अपने समाज और राष्ट्र के प्रति संबद्धता को जाहिर करती उनकी कविताएं कर्महीन-निराशा के दौरे में आशा के एक दीप के समान हैं।

हाशिए के परिवृत को विस्तार देती आदिवासी कविता हिंदी कविता की परंपरा को नयी भावाभिव्यंजना से भर रही है। आदिवासी जगत के अनुभव लोक समान्यतः नयी भाषा में नए भाव-बिंबों को लेकर चलते हैं। आदिवासी स्त्री-कविता नयी शब्द-संपदा और ताज़ा बिंबों से भरी पड़ी है। मुख्यधारायी साहित्य में आदिवासियत की चर्चा न के बराबर है जहाँ है वह भी उनके बाह्याकृति के आधार पर उसकी भदेस प्रस्तुति करती है। आठवें-नौवें दशक से ही हिंदी कविता में आदिवासी स्वर की गूंज सुनाई देने लगती है। ज्यों-ज्यों शिक्षा और आधुनिक चेतना का प्रसार होता गया और सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का पदानुक्रम टूटता गया, त्यों-त्यों समाज के विभिन्न वर्गों से वंचित समुदाय के अनुभव साहित्य में स्थान पाने लगे। वर्चस्व और बहुमत की नीतियों ने समाज में कई तरह की असमानता को पैदा किया और श्रेष्ठताग्रंथि ने मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा के भाव को । आदिवासी समाज और जन-समुदाय के प्रति कमोबेश जिस तरह के पूर्वग्रह फैलाये गए, वह सामाजिक संप्रभुता को मलिन करते गए। आदिवासी समाजशास्त्र को महत्त्वहीन समझा गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आज भी आदिवासी समाज से सामंजस्य बैठाने में सैकड़ों अड़चनें आ रही हैं। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य एक सेतु- एक मध्यमा की भूमिका निभा रहा है ; आदिवासी साहित्य-संस्कृति-भाषा और उनके मनोगतिकी को समझने में! रमणिका गुप्ता ने आदिवासी लेखन को- उसके साहित्य को 'जीवन का साहित्य' माना है : "आदिवासी साहित्य की शुरुआत ही जीवन से होती है, प्रकृति से होती है और ये दोनों यथार्थ से जुड़े हैं। उनका साहित्य जीवन की समस्याओं से जुड़ा है।"[47] जीवन और प्रकृति का सम्मिश्रण ही आदिवासी सौंदर्यशास्त्र का आधार है। रमणिका गुप्ता का यह कथन समकालीन आदिवासी लेखन पर शब्दशः लागू होता है। जीवन से जुड़े यथार्थ का नैरेटिव यहाँ कई रंगों को एकसाथ बिखेरता है। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, युवा कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा आदि आदिवासी स्त्री-कवियों ने आदिवासियत को हिंदी कविता में एक नयी पहचान दी है।

निर्मला पुतुल की कविताएं आदिवासी अस्मिता-संघर्ष को कई नए बीज-शब्दों से परिभाषित करती हैं। सत्ता-प्रशासन-व्यवस्था की भ्रष्ट नीतियाँ और अपने समाज में फैले दुराचारी चरित्रों को कवयित्री सीधे चुनौती देती हैं। आदिवासी स्त्री-अस्मिता को भी कवयित्री ने अलग-अलग रूपों में संबोधित किया है। अपने ऐतिहासिक विवेक और जातीय चेतना से सम्पन्न कवयित्री अपने समाज के जागरूक पात्रों को मनुष्यता का पाठ पढ़ाती है। आत्मविश्वास से लबरेज निर्मला पुतुल की कविता स्त्री-दृष्टि का मौलिक संधान करते दिखती है: "मैं स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखते / मुक्त होना चाहती हूँ अपनी जाति से / क्या है मात्र एक स्वप्न के / स्त्री के लिए - घर संतान और प्रेम? क्या है?"[48] पुरुषवादी दृष्टि का नकार और स्वयं की दृष्टि की स्थापना स्त्री के जीवन का विस्तार है। घर, संतान और प्रेम आदि सांसारिक दायित्वों से भी आगे के जीवन का स्वप्न बड़ा स्वप्न है, सच्चे अर्थों में मनुष्यता की प्रतीति भी।

iii. स्त्री-कविता में आलोचकीय दृष्टिकोण :

हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा में स्त्री रचनाशीलता को उपेक्षित रखना एक ऐतिहासिक तथ्य है। लगभग सभी साहित्येतिहासकार अपने इतिहास ग्रंथ में स्त्री-रचनाकारों को स्थान देने, उनका साहित्यिक मूल्यांकन करने से कतराते रहे। हिंदी भाषा में लिखित प्रथम इतिहास ग्रंथ (महेशदत्त शुक्ल कृत भाषाकाव्यसंग्रह 1873) से लेकर नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) से प्रकाशित 16 खण्डों में 'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास' तक में स्त्री-रचनाकारों को अलग से न ही स्थान मिला और न ही उनके साहित्यिक अवदान की चर्चा हुई। पहली बार तीसरे सप्तक की कवयित्री और इतिहासकार सुमन राजे इस कमी को पूरा करते हुए 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' को प्रकाश में लाती हैं जिसमें स्त्री-रचनाशीलता की ऐतिहासिक विकास-यात्रा को अखिल भारतीय स्तर पर लाने का प्रयास हुआ। इसी इतिहास ग्रंथ में इतिहासकार यह भी बताती है कि कैसे इतिहासकार, आलोचक जेंडर संबंधी पूर्वग्रहों से ग्रस्त स्त्री-रचनाशीलता को त्याज्य समझते रहे। जो गिने-चुने स्त्री रचनाकारों जिनमें – मीरा, दयाबाई-सहजोबाई, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की अभिव्यक्ति को भी एक विशेष पुरुषवादी दृष्टि से ही मूल्यांकन किया गया। मीरा को भक्त कवयित्री तो महादेवी को वेदना, रहस्यवादी कहकर उनकी काव्याभिव्यक्ति के गूढ़ार्थ को सीमित दायरे में बांध दिया गया। आलोचक और आलोचना जगत ने भी इसे इतना भुनाया कि ये कवयित्रियाँ भक्ति, दुख, वेदना, पीड़ा तथा रहस्यवाद की देवी का पर्याय बन गयीं।

आधुनिकयुगीन आलोचना की एक अलग धारा ने जरूर मीरा-महादेवी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की कविताओं को नयी काव्यदृष्टि से देखने का प्रयास किया लेकिन उनके मानक भी नवीन नहीं थे। स्त्री-लेखन में भी साहित्य जगत का वर्चस्ववादी रुझान इसी बात की अपेक्षा करता है कि उनमें पितृसत्ता-धर्मसत्ता के अनुकूल ही सामग्री हो। उससे इतर होने पर या तो उसे साहित्येतिहास की कोटि से बाहर रखा जाएगा या उसे साहित्य का दर्जा प्राप्त नहीं होगा अथवा

उसके लिए 'फुटकल खाते' या बट्टेखाते खोल लिए जाएंगे। वहाँ भी स्त्री रचनाकारों के प्रति भाषा की वह तरलता व सुगमता नहीं रहती है जो समान्यतः पूरे इतिहास में आद्योपांत बनी रहती है। स्त्री रचनाकारों के प्रति इतिहासकारों-आलोचकों का भाव दुख की न्यारी, सुदेवी, महादेवी, लक्ष्मी आदि वाला भाव ही रहता था। सुमन राजे जैसे इतिहासकार ने अपने शोध के दौरान पाया कि स्त्री काव्यधारा की एक ऐतिहासिक विकास-यात्रा रही है जो संरक्षण और संचयन के अभाव में आज हमारे सम्मुख नहीं है। हाँ, जिन ग्रन्थों का प्रणयन धर्माश्रय, राजाश्रय एवं लोकाश्रय के तहत हुआ, केवल उन्हीं ग्रन्थों को संरक्षण मिला और किसी तरह वह उपलब्ध हो सका। हिंदी साहित्य की परंपरा में उन्नीसवीं सदी में पहली बार कुछ वर्षों के अंतराल में स्त्री-कवियों के संग्रह प्रकाश में आये। कुछ संग्रहों के नाम निम्नांकित हैं :

1. मुंशी देवी प्रसाद द्वारा संपादित 'महिला मृदुवाणी' (1904)
2. ज्योतिप्रासाद 'निर्मल' द्वारा संपादित 'स्त्री-कवि-कौमुदी' (1928)
3. ज्योतिप्रासाद 'निर्मल' द्वारा संपादित 'स्त्री-कवि-कौमुदी' (1931)
4. गिरिजादत्त शुक्ल और ब्रजभूषण शुक्ल द्वारा संपादित 'हिंदी काव्य की कोकिलाएं' (1933)
5. व्यथित हृदय द्वारा संपादित 'हिंदी काव्य की कलामयी तारिकाएँ' (1941)
6. सत्यप्रकाश मिलिंद द्वारा संपादित 'हिन्दी की महिला साहित्यकार' (1960)

इन संकलनों में संपादकों की टिप्पणी साहित्येतिहास लेखन में छुपी, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से रची साजिश व पूर्वग्रह का संकेत है। हालांकि वह संकेत करते हुए भी अपनी वाणी में उन धारणाओं को ले ही आते हैं जिनके प्रतिरोधस्वरूप वे इस महनीय कार्य को सम्पन्न कर रहे होते हैं। जब पहली बार स्त्री-कवियों का अलग से संकलन 'स्त्री-कवि-कौमुदी' (1928) शीर्षक से ज्योतिप्रसाद निर्मल के संपादन में प्रकाशित हुआ तो वह एक ऐतिहासिक घटना के रूप में दर्ज हुआ। लगभग चालीस (40) अल्पज्ञात-अज्ञात कवयित्रियों का यह संकलन हिंदी

साहित्येतिहास में निबद्ध पुरुषवादी जड़ मान्यताओं को सामने लाता है। संपादक एवं संकलनकर्ता ज्योतिप्रासाद 'निर्मल' की टिप्पणी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है : "हिन्दी-साहित्य के इतिहास का जिन लोगों ने अध्ययन किया है उन्हें भली-भाँति ज्ञात है कि पुरुष कवियों की भाँति स्त्री-कवियों ने भी भाषा के भंडार की पूर्ति करने में वास्तविक और बहुत प्रयत्न किया है। तुलसी, बिहारी, देव और पद्माकर आदि का नाम प्राचीन साहित्य के उद्धारकों में लिया जाता है तो मीराबाई, सहजोबाई और सुंदरिकुंवरि बाई आदि ने उसके उद्धार का कम प्रयत्न नहीं किया है। यह ठीक है कि समय के प्रवाह और पुरुषों के प्रभुत्व से पुरुष लेखकों की कृतियों का प्रचार अधिक हुआ, जनता के सामने वह सांगोपांग रूप में आया अथवा उसका विज्ञापन अधिक हुआ। परदा-प्रथा के प्रबल प्रचार और प्रभुत्व से स्त्रियों को, सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक आदि कई प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ीं। यही कारण है कि उनकी साहित्यिक उन्नति भी चारदीवारियों के भीतर ही सीमित रही, बाहर जनता में उसका प्रसार नहीं हो सका।"[49] संपादक की यह टिप्पणी इतिहास व आलोचना संबंधी मानकों को कठघरे में लाती है। यहाँ उन कारणों को साफ देखा जा सकता है जिसके कारण स्त्री-काव्यधारा आम जनता के समक्ष नहीं आ पाई। समाज में पुरुषवादी प्रभुत्व, प्रचार-प्रसार की कमी, विज्ञापन का अभाव और परदा-प्रथा के प्रभावों ने स्त्री-कवियों की रचनाओं को चारदीवारी के बाहर आने ही नहीं दिया। संपादक स्त्री-काव्यधारा की महत्ता को स्वीकारते हुए भी उन्हें उनकी सीमा बताते नहीं हिचकते। संपादक उस विचार पद्धति को दर्शाते हैं जिसमें पुरुष वर्ग सोचने को अभ्यस्त हो चुके हैं। गरिमा श्रीवास्तव 'नवजागरण और स्त्री' की सीरीज संपादन एवं प्रस्तुति (हिन्दी काव्य की कोकिलाएं, संपादक : गिरिजादत्त शुक्ल, ब्रजभूषण शुक्ल) पुस्तक की भूमिका में संपादक द्वय की टिप्पणी को पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर लगाए जाने वाले 'सेंसरशिप' के रूप में देखती हैं। इस प्रसंग में उनका कथन उल्लेखनीय है : "...कवयित्रियों की रचनाओं पर जो टिप्पणियाँ की गई हैं वे बहुत सतही और एक सीमा तक प्रभाववादी हैं ; उनमें किसी गहरे विश्लेषण का अभाव

दीखता है साथ ही नैतिकता के प्रति आग्रह इस हद तक है कि संपादक द्वय रचनाकारों को विषय-वस्तु के चुनाव संबंधी सलाहें भी देते दीख पड़ते हैं, निश्चित रूप से इसे स्त्रियों पर लगाई जाने वाली 'सेंसरशिप' के रूप में देखा जाना चाहिए।"[50] जिस तरह राज्य सत्ता और धर्मतंत्र आदि संस्थाओं ने स्त्रियों के लिए सैकड़ों अर्गलाओं को बनाया, उनपर थोपा! ठीक उसी तरह साहित्येतिहास में भी कुछ अपवादों को छोड़ कर सभी साहित्यकार-चिंतकों आदि ने स्त्री-रचनाकारों के लिए कुछ न कुछ आदर्श और सीमाओं के साथ अपेक्षाओं जैसे नियामक देते रहे। धर्म, परंपरा-संस्कृति, सामाजिक-पारिवारिक पौरुषिक मान-मर्यादा का ठीकरा यहाँ भी स्त्री के माथे फोड़ने से तथाकथित हमारे लेखक-चिंतक पीछे नहीं हटे। यथा : "प्रश्न यह है कि देवियाँ काव्यकला में किन आदर्शों की सौंदर्यमय मूर्ति प्रतिष्ठित करेंगी? उनके शब्द कैसी स्त्रियों और कैसे पुरुषों का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करके उनके अनुसरण की ओर हमारे भीतर की छिपी हुई रचनात्मक शक्तियों को क्रियाशील बनावेंगे? क्या शेख और प्रवीणराय की कविता से हमारी गृहदेवियों को कोई पथ प्रदर्शन प्राप्त होगा? इसका उत्तर है- नहीं। इनकी पंक्तियों में काव्य-कला का जो थोड़ा-बहुत विकास देखा जाता है वह मानव हृदय को मोहित करने की शक्ति भले ही रखता हो, किन्तु उसमें व्यक्तित्व को विकसित करने का सामर्थ्य नहीं है।"[51] अथवा रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी' की शृंगारपरक उद्बोधनों के लिए दी गई टिप्पणी लेखक के भीतर पितृसत्ता के वर्चस्व को दर्शाती है : "अभी चकोरीजी का अल्पवय ही है, फिर भी उन्होंने अपनी सहृदयता से काव्य-रसिकों को आनंद प्रदान करने की चेष्टा की है। आशा है, उनकी लेखनी, प्रौढ़ता प्राप्त होने पर, इस क्षेत्र में, अपूर्व रस की वृष्टि करेगी। एक विनम्र प्रार्थना के साथ हम अपने इस निवेदन को समाप्त करते हैं और वह यह कि वे काव्याराधना में अपने हृदयगत उद्गारों की अभिव्यक्ति में किंचित अधिक संयत होने का उद्योग करें।"[52] एक ओर 'अपूर्व रस की वृष्टि की आशा' और दूसरी ओर हृदयगत उद्गारों को संयत रखने का उद्योग उस द्वन्द्वात्मक स्थिति में ले जाता है जहाँ पुरुषवाद स्त्री-लेखन के उद्गारों से विचलित और व्याकुल दीख पड़ता है। आलोचना जगत में

ऐसे अनेक उद्धरण, टीका-टिप्पणी हैं जो पुरुषवाद की बद्धमूल प्रपत्तियों को दिखाती हैं। ध्यातव्य हो कि इसी तरह का अनुरोध या निवेदन कभी किसी अति शृंगारपरक रचनाएँ लिखने वाले पुरुष कवियों को नहीं दिया गया।

डॉ. रमाशंकर 'रसाल' अपने इतिहास में भी स्त्री रचनाशीलता पर विवादित टिप्पणी करने से पीछे नहीं हटते हैं। वे तो स्त्री के रचनाकर्म को उनके पुरुष प्रेमियों-सहयोगियों के दाय स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। बावजूद इसके स्त्री रचनाशीलता की महत्ता उन्हें अंततः स्वीकार करनी पड़ती है। आधुनिक युग की महीयसी कवयित्री महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान दो अलग आस्वाद की कवयित्री हैं। हिंदी आलोचना जगत ने महादेवी वर्मा को 'आधुनिक युग की मीरा' या 'रहस्यवाद की कवयित्री' आदि की संज्ञा से अभिहित कर उनकी कविताओं की अर्थवत्ता व व्यापकता को सीमित दायरे में बाँधने की कोशिश की है। इसका यह अर्थ नहीं कि मीरा की कविताएं अपने अर्थ विन्यास में सीमित हैं बल्कि मीरा की कविताएं सभी तरह की सीमाओं के अतिक्रमण की पर्याय हैं। दोनों ही कवयित्रियों के युग संदर्भ और चुनौतियाँ भिन्न थीं। इस अर्थ में महादेवी को आधुनिक युग की मीरा कहना न्यायसंगत नहीं है। महादेवी की कविताओं का टोन अलग है उसके लिए उस अंतर्दृष्टि और आत्मसंघर्ष को समझना आवश्यक है जिससे कवयित्री निरंतर लड़ रही थी। उनकी दृष्टि की व्यापकता को बिना समझे उनकी कविताओं को समझना मुश्किल है। अब भी महादेवी की कविताएं नवीन काव्यदृष्टि और नवीन भाष्य की अपेक्षा रखती हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान जिन चरित्रों और जिन भावों से काव्य साधना में प्रवृत्त होती हैं वह कहीं न कहीं उनके निजी स्त्रीत्व का प्रतिबिम्ब है। 'झाँसी की रानी' की वीरता और औदार्यपूर्ण संघर्ष को वह अपने समय के संघर्ष के रूप में देखती हैं। अतः उनका वीरतापूर्ण भाव स्त्रीत्व का नवीन आयाम है।

समकालीन स्त्री-कवियों की कविताओं की अंतर्वस्तु, शिल्पबोध और भाषाबोध निश्चित रूप से काव्यालोचना हेतु अलग काव्यदृष्टि की मांग करती है। स्त्री के प्रति पारंपरिक

सामाजिक और साहित्यिक पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों से मुक्त होकर ही उस काव्यदृष्टि का निर्माण संभव है। स्त्री विमर्श की स्वस्थ व मूल वैचारिकी, उनकी स्वानुभूति, उनके अनुभव जगत के साथ ही प्रकृति प्रदत्त विशिष्टता एवं स्वायत्तता आदि मूलभूत इकाई है जिनकी मदद से स्त्री-कविता के मूल्यांकन के मानक निर्मित किए जा सकते हैं। स्त्री-कविता स्त्रियों द्वारा रचित कविता भर नहीं है वह एक ऐसे पथ का निर्माण करती है जिस पर चलकर हम अपनी वास्तविक इतिहास-संस्कृति-परंपरा आदि को समझ सकते हैं। आलोचना का काम भी कविता में अंतर्निहित उसी पथ व समझ को विकसित करना है न कि लैंगिक पूर्वग्रहों से कवयित्रियों पर सेंसरशिप लगाना। स्त्री-कविता, स्त्री विमर्श, स्त्रीवाद, स्त्री-दृष्टि के साथ-साथ विश्वायन मानवतावाद को नवीन दृष्टिकोणों से परिभाषित करती है। अतः आवश्यकता है कि स्त्री-कविता को बने-बनाए काव्य-आस्वादन से पृथक भावना से पढ़ने और समझने की। वरिष्ठ कवि आलोचक ए. अरविंदाक्षन अपने एक लेख (‘*स्त्री कविता का तीसरा पाठ क्या अनिवार्य नहीं?*’) में मुक्तिबोध की कविता के तीसरे क्षण के सिद्धांत के हवाले से स्त्री-कविता की तीसरी पाठ की मांग करते हैं। स्त्री-कविता आरंभ से ही इस तीसरे पाठ की भूमिका को निर्मित करती रही है। स्त्री-कविता में स्त्री भी केवल समाज की एक इकाई भर नहीं है अपितु वह एक भरा-पूरा संसार है ; सामाजिकता से लबरेज, अपने इतिहास को खोजती और अपना नवीन इतिहास निर्मित करतीं। स्त्री-कविता का संसार स्त्री-कवियों की व्यापक रचना-दृष्टि और विश्व-दृष्टि की संभावनाओं को नयी-नयी दिशाएँ देती सृजन के उन तहों तक ले जाती हैं जिसकी पौरुषिक कल्पना ही आज तक हुई है। सुमन राजे के शब्दों में कहें तो “जहां पुरुष मौन हो जाता है वहाँ जन्म लेता है महिला-लेखन।”[53] कवयित्रियां प्रेम के उस उन्मुक्त भाव को सामने लाती है जो जेंडरलेस होने के साथ ही सर्वव्यापी भी है। स्त्री-कविता के प्रति एक पृथक काव्य आस्वाद की आवश्यकता महसूस होती है। स्त्री-कविता की महत्ता व तीसरे क्षण के पाठ की अनिवार्यता पर बल देते हुए भी ए. अरविंदाक्षन की आलोचकीय टिप्पणी उल्लेखनीय है क्योंकि वे स्त्री-कविता में कथित तौर पर निहित

अंतर्विरोधों को भी देखते हैं : "स्त्री कविताओं ने अपना एक रचना-संसार सृजित किया है। वह आवश्यक भी है। पिछले तीन दशकों की स्त्री कविताओं की अंतर्वस्तु स्त्री की मानसिकता को अलग-अलग कोण से व्यक्त करने वाली रही है। इसमें स्त्री के अवसाद से लेकर उसके प्रतिरोध तक व्यक्त है। इसके अपने कारण भी हैं। स्त्रीवादी दृष्टि का उभार, स्त्री सशक्तिकरण के प्रति सचेतनता, पश्चिमी जेंडर स्टडीज़ का प्रचार, मध्य एवं उच्च मध्यवर्ग में स्त्री-वैचारिकी का प्रसार, स्त्रियों को प्राप्त आर्थिक स्वावलंबन और शैक्षिक सुविधा से उपलब्ध आजादी आदि इसके कारण रहे हैं। लेकिन इसमें अंतर्विरोध भी हैं। ऊपर की ये स्थितियाँ महानगरीय, शहरी और कस्बाई जीवन में देखने को मिलती हैं। भारत का ग्रामीण तबका वहीं का वहीं है। स्त्री कविताओं में उपलब्ध अवसाद से लेकर प्रतिरोध तक की अभिव्यक्ति शहरी उच्च-मध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय स्त्रियों की है। कविता के क्षेत्र में सृजनरत स्त्रियाँ भी इन्हीं क्षेत्रों की हैं। परंतु इसे सहज परिणाम ही कहा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री कविताओं का प्रसार गाँवों में भी हो तथा ग्रामीण तबके से ऐसी कवि हमें अपनी रचनात्मकता का परिचय दें तो दरअसल कविता के तीसरे पाठ की अवधारणा पूर्ण हो सकती है। यह स्त्री कविता के आंतरिक एवं बाह्य विस्तार भी है।"[54]

सत्ता की विध्वंशक नीतियों और छद्म विकास की गति ने गाँव की परिकल्पना को ही परिवर्तित कर दिया है। बावजूद इसके आलोचक की चिंता एक बड़ी आबादी की ओर संकेत करती है जो आज भी पितृसत्ता के तले निरंतर दम तोड़ रही है। भारत जैसे महाद्वीप में विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोध स्त्रियों के जीवन को लील रहा है। इतिहास से बहुत कुछ सीखकर हमने आगे कदम रखा है। अब गाँव या ग्रामीण स्त्रियों के प्रति धारणा में बदलाव आया है। यह बदलाव एक प्रक्रिया है जो गतिमान रहती है। ग्रामीण स्त्रियाँ पहले से अधिक वोकल और जागरूक हुई हैं लेकिन परंपरा और आधुनिकता को पूरी तरह छोड़ने और अपनाने का जो आत्मसंघर्ष महानगरीय स्त्रियों में बना रहता है, ठीक उन्हीं अंतर्द्वंद्वों से ग्रामीण स्त्रियाँ भी गुजर

रही हैं। रंजना जायसवाल, अनीता वर्मा और नीलेश रघुवंशी की कविताओं में आई स्त्रियों की अवस्थिति वैसी ही है। कहीं वे स्त्री पात्र अत्यधिक वोकल हैं तो कहीं पितृसत्ता के बोझ तले शोषित। अनामिका की कविता 'पतिव्रता' की स्त्री पात्र, रंजना जायसवाल की 'जब मैं स्त्री हूँ', नीलेश की 'बुआ का दुख' और 'खूँट जाये' आदि कविताओं की स्त्री पात्र एक नयी ग्रामीण स्त्री के परिदृश्य को सामने लाती है। जीवन के विशेष खटराग में ये स्त्रियाँ सबल भी हैं, निर्बल हैं, तार्किक भी और अतार्किक भी।

स्त्री-कविता स्त्री ही नहीं, समस्त मनुष्य के अस्तित्वगत संघर्ष की पूरक है। इस अर्थ में वह प्रकृति और मानव के संबंधों को नए रूप में व्याख्यायित करती है। लेकिन यहाँ भी पुरुषवादी निग्रह अपनी वर्चस्ववादी ताकतों के सहारे उसे अपदस्थ करना चाहता है। जैसे एक स्त्री समाज की रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ होने पर आलोचना की शिकार होती है ठीक वैसे ही स्त्री-लेखन भी जब समाज द्वारा गढ़ी गई रूढ़ और पुरुषवादी अर्गलाओं को तोड़ता है तो वह पुरुषवादी आलोचना का प्रायोजित शिकार होता है। स्त्री-कविता उन पुरुषवादी अर्गलाओं को कोमलता से मनुष्यता का पाठ पढ़ाती है। अत: आवश्यकता है कि कविता के रूढ़ मानकों व आस्वादनों से अलग स्त्री-कवियों को पढ़ा व समझा जाए। अनामिका की कविता के संदर्भ में कवि-आलोचक मदन कश्यप का कथन महत्त्वपूर्ण हो उठता है। अनामिका की कविता की आधारशिला, नवीन सौंदर्य-दृष्टि और भाषा की सुगमता के साथ-साथ उनके ग्रामीण और शहरी-बोध को पहचानते हुए वे लिखते हैं "भारतीय स्त्रियों के जीवन-संघर्ष तथा हास-परिहास और गीत-अनुष्ठान आदि के जरिए पीड़ा को सह पाने की उनकी परंपरागत युक्तिहीन युक्ति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने पर अनामिका की कविताओं के नए अर्थ खुलते हैं, जिन तक कविता को देखने-परखने की रूढ़ ढाँचे को तोड़कर ही पहुँचा जा सकता है।"[55] 'कविता को देखने-परखने के रूढ़ ढाँचे को' तोड़ने का आशय कविता व काव्यालोचना में स्त्री-दृष्टि को स्पेस देना है। स्त्री-दृष्टि सम्पूर्ण मानव व मानवेतर जगत को सृजोन्मुखी रूप में प्रतिष्ठित करती है। अनामिका

की कविता में निहित दृष्टि भी काव्यलोचना हेतु नवीन मानकों को निर्मित करती है। भारतीय स्त्रियों के जीवन-संघर्ष और पितृसत्तात्मक संरचना से संचालित समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक होने के बजाय एक-दूसरे के विपरीत नजर आते हैं ; विशेषत: पुरुष अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए स्त्री-वर्ग को हजारों कर्मकांडों एवं मिथकों में गूँथ देता है। कविता उन अतिवादी अवधारणाओं पर प्रहार भी करती है और स्त्री-पुरुष के साझा विकास की अनंत संभावनाओं को दिशा भी देती है।

स्त्री-कविता पर प्रमुख आलोचकों की टिप्पणियाँ उनके उदार और उग्र दोनों ही तरह के नैरेटिव्स को सामने लाती हैं। स्त्री विमर्श पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले आलोचक स्त्री-कविता को स्त्रीवादी वैचारिकी और स्त्री-विमर्श के खोल से पृथक देखना चाहते हैं। उनकी सम्मति कविता संबंधी रूढ़ ढाँचे को ही पुनर्निर्मित करती है। स्त्री-कविता, स्त्री विमर्श और स्त्रीवादी वैचारिकी का काव्य रूप होने के साथ ही उसके सिद्धांतों-मानवतावादी विचारों का विस्तार रूप भी है। चूंकि कविता अपने रूप-विन्यासों (form) में उग्रता या फूहड़ता नहीं लिए रहती है इसलिए वह कोमलता से हृदय परिवर्तन की आस रखती है। वह अपना काम मंथर गति से करती हुई हृदय में पैठती है। नीलेश रघुवंशी की कविताओं पर परमानंद श्रीवास्तव और विजय कुमार की टिप्पणी नीलेश की कविता पर कम और स्त्री-विमर्श अथवा स्त्री-कविता संबंधी पूर्वग्रह को अधिक दर्शाती है :

"नीलेश जादुई फंतासी की जगह घर-परिवार, बच्चे का जन्म, प्रसव के दर्द आदि को काव्य विषय बनाती हैं और उन्हें सादगी का मर्म जानने में ही कविता अकसर सहायक होती है। राजनीति प्रकट न हो, पर नीलेश इस हद तक समय से बेखबर नहीं हैं कि राजनीति उनके लिए सपाट झूठ और गलत शब्द हो। इस तरह नीलेश रघुवंशी को पढ़ना एक भरोसेमंद साथी को पढ़ना है। उनकी कविताएं इधर की कविता में आएं ठहराव, कीमियागीरी या उसके उलट

सरलतावाद के विरुद्ध नया संघर्षरत स्त्री है, जो जटिल समय को 'क्लीशे' नहीं बनने देती है।"[56] –(परमानंद श्रीवास्तव)

"दो कारणों से मुझे उनकी कविताएं आकर्षित करती हैं। एक तो यह कि स्त्री के संसार को उन्होंने बहुत बंधी-बंधाई विमर्श लकीरों के भीतर कैद नहीं किया है और उनके यहाँ स्त्री-मनोविज्ञान और सामाजिक-आर्थिक परिवेश, परिवेश की एक ठोस वर्गगत श्रमजीवी दुनिया, दोनों को एक साथ एक समय पर घटित हो रही होती हैं, जैसे कि हमने पचास और साठ के दशक में कुछ चर्चित उर्दू लेखिकाओं के यहाँ देखा था। घर के बाहर एक अकेली लड़की के एलियनेशन को रचते हुए, उसमें नीलेश ने हिंदी कविता में स्त्री स्वर के रूढ़ एस्थेटिक्स को तोड़ा था, उसमें बहुत कुछ नया जोड़ा था।"[57] – (विजय कुमार)

उपरोक्त दोनों ही समीक्षक सम्मति स्त्री-कविता संबंधी काव्यालोचना पद्धतियों को न सिर्फ कमजोर करती है बल्कि स्त्री-कवियों की रचना-दृष्टि पर सवालिया निशान लगाती है। युवा कवयित्री सुजाता अपने एक लेख (*खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत: नीलेश रघुवंशी की कविता*) में नीलेश की कविता के विश्लेषण में इन दोनों ही टिप्पणियों का हवाला देकर उस मानसिकता पर कटाक्ष करती हैं जिसने सदियों से स्त्री रचनाशीलता को इतिहास से बाहर रखा। सुजाता इन दोनों ही टिप्पणियों का उदाहरण देते हुए लिखती हैं- "स्त्री-लेखन और स्त्री-कविता पर ऐसी अनेक टिप्पणियाँ करते हुए आलोचना और आलोचकनुमा लोग अक्सर पाए जाते हैं। ऐसे क्लीशे निर्मित करती आलोचना में 'स्त्री के नजरिए' की वजह से उसके कथ्य की महत्ता नहीं होती बल्कि उसके कथ्य के मेंस्ट्रीम कथ्य होने यानी मुख्यधारायी समझ के कथ्य से नजदीकी की वजह से स्त्री के नजरिए का महत्त्व होता है। यहाँ आलोचना एक भयानक काम करती है। स्त्रीवाद और स्त्री विमर्श को 'क्लीशे' कहते हुए एक तो यह नहीं बताती पाठक को कि स्त्रीवादी कविता है क्या? स्त्रीवाद या स्त्री विमर्श ही है क्या? स्त्री विमर्श की बँधी-बँधाई लकीरें कौन-सी हैं जिनसे कविता बाल-बाल बची है और बचना ही श्रेयस्कर है; जजमेंट पास

करते हुए आलोचक का दायित्व बनता है कि पाठक को शिक्षित तो करें! नीलेश का पहला कविता संग्रह 'घर निकासी' 1997 में आया था। तब तक स्त्री कविता ने ऐसे कौन से एस्थेस्टिक गढ़ लिए थे जो आलोचक के अनुसार रूढ़ भी हो गए थे और नीलेश का मूल्यांकन और महत्त्व इसी के आधार पर तय किया जा रहा है कि वे स्त्री-कविता के तथाकथित रूढ़ एस्थेटिक को तोड़ती हैं। मुझे अक्सर हैरानी होती है कि आलोचकों ने क्या कभी स्त्रीवाद या स्त्रीवादी आलोचना-दृष्टि या स्त्री-विमर्श को पढ़ा-समझा भी है? वे आखिर कौन-सी स्त्री-कविता पढ़ रहे हैं जिसमें उन्हें रूढ़ियाँ(?) दिख रही हैं? जिस हिंदी कविता ने आधुनिक युग में कदम रखने से पहले तक स्त्री-सौंदर्य, प्रकृति-चित्रण और काव्यरूढ़ियों का इतना अधिक एक जैसा प्रयोग किया कि नया कवि नयी कविता से जल्दी-जल्दी ऊबने लगा, उपमान मैले होने लगे वहीं हिंदी कविता पिछले तीस बरस में पहली बार प्रखरता से सामने आई स्त्री कविता में रूढ़ एस्थेटिक और बँधी-बँधाई लकीरें देखने लगी तो संदेह करना चाहिए कि कहीं यह सिर्फ पूर्वग्रह तो नहीं?"[58] सुजाता की यह प्रखर टिप्पणी स्त्री-कविता की काव्यालोचना के संदर्भ में कई पुरुषवादी पूर्वग्रहों को तो खोलती ही है, दूसरे हिंदी काव्यालोचना की परंपरा में रूढ़ क्लीशे, जो कि अंगद के पाँव की भाँति जड़ बनाए हुए बैठा है, उस जड़ता में सेंध भी लगाती है। स्त्री-कविता जनतंत्र संबंधी समसामयिक मसलों और चुनौतियों को जिस रूप में अभिव्यक्त कर रही है वह निर्विवाद रूप से हिंदी कविता में नवीन अध्याय है। ऐसे में यह कहना कि स्त्री-कविता, स्त्री-विमर्श या स्त्रीवाद के रूढ़ एस्थेटिक को तोड़ती है पूरी तरह अनर्गल और द्वंद्वमूलक है। स्त्री-कविता का दलित व आदिवासी स्वर उत्तेजक और तेजस्विता के साथ वैश्विक और प्राकृतिक उपादेयता को नवीन संदर्भों से जोड़ता है जो अधिक प्रगतिशील और विश्वव्यापी-सर्वग्राही है। नीलेश न ही स्त्री की अस्तित्वगत चुनौतियों से बेखबर हैं और न ही लोकतंत्र की घटती साख से ; वह अपनी विकास-यात्रा में उस दूरदर्शिता तक जाती हैं जहाँ सबको सबकुछ एक साथ मिले : "मैं अपनी कविता में समूचे भारतीय जीवन को उसके समूचे रुप में प्रतिबिंबित करना चाहती हूँ।...

...क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो कुछ मिले, वो सबको एक साथ मिले। ट्रेन में भी और जीवन में भी। यह एक शाश्वत सवाल है, जो कविता जाने कब से उठा रही है।"[59] नीलेश के इस व्यापक और विश्वायन दृष्टिबोध को समझने की आवश्यकता है। मानव जीवन के शाश्वत सवालों को स्त्री-कविता मनुष्यता के आधार पर उठाती है न कि वर्चस्ववादी नियामकों से ग्रस्त हो कर। यह भी ध्यान रखे जाने की जरूरत है कि स्त्री-कविता इन शाश्वत सवालों को, स्त्री की स्वाधीनता एवं स्वायत्तता संबंधी सवालों को उठाते हुए किसी तरह के नैतिक-अनैतिक दबावों को नहीं महसूस करती है। हिंदी कविता की विकास-यात्रा की यह नवीन काव्यधारा अपनी मौलिकता इसी बात से सिद्ध करती है कि वह परंपरा, संस्कृति और साहित्य की उसी विकसित धारा का अंग है और इसी तथाकथित मुख्यधारा में उन्हें अपनी जगह बनानी है। 'घर निकासी' एक प्रस्थान है उसी घर की खामियों को पहचानने और उसे दूर करने की। इस सांसारिक तथ्य को पुरूषवर्ग से अधिक स्त्री-वर्ग जानता है क्योंकि एक स्त्री जीवनपर्यंत 'अपने घर की तलाश' में भटकती रहती है।

"कविता की दुनिया अपने सच को पा जाने की दुनिया है। एक बड़बोले समय में जीवन के आंतरिक सच का अनुभव। विज्ञापन सरीखी चमत्कृत कर देने वाले अनुभवों से दूर कविता का सच, साधारण जन के जीवनानुभव का संवेदनशील साझीदार है। दुनिया भर के कवियों ने आक्रामक और हिंसक समय में अपनी स्वाधीनता व सृजनशीलता को बचाए रखने के लिए कई खतरे उठाए हैं।... ... स्त्री रचनाकारों की कविताएं इस जोखिम से अछूती नहीं हैं। उनका संघर्ष और भी विकट है क्योंकि वहाँ दुनिया के इस भूगोल के साथ-साथ स्त्री-चेतना का वह आंतरिक भूगोल भी है, जिसका मानचित्र हर पल उसकी कलम से गढ़ा जाता है।"[60] अपने सच और अपने समय के सच को कविता में निबद्ध करती स्त्री-कवियों ने सृजनशीलता से अपने समकाल को अभिव्यक्त किया है। उनकी कविता में निहित स्त्री-चेतना सामाजिक बदलाव की ओर संकेत करती है। गगन गिल, सविता सिंह, रंजना जायसवाल, नीलेश रघुवंशी , शुभा आदि

दर्जनों कवयित्रियों ने अपनी रचना-धर्मिता द्वारा स्त्रीत्व को व्यापकता प्रदान करते हुए मानवीय विवेक और लैंगिक समानता के विभिन्न आयामों को रूप दिया है। इस प्रक्रिया में ही कवयित्रियाँ 'पर्सनल' को 'पोलिटिकल' बनाती हैं और 'पोलिटिकल' को 'पर्सनल'। उनकी निजता, सामाजिकता तदन्तर से सामूहिकता में परिवर्तित होती दिखती है। सविता सिंह की कविताओं में स्त्री इसी निजेतर स्वायत्तता की बात करती है। स्त्रीवाद की प्रखर आँच में तपती उनकी कविताएं मुखर तो हैं ही समाज और साहित्य में व्याप्त पितृसत्ता की किलेबंदी को तोड़ती भी हैं ; एक वैचारिक हस्तक्षेप के सहारे कवयित्री उसका प्रतिपक्ष तैयार करती है। आत्मबोध, आत्ममंथन और आत्मावलोकन आदि विधियाँ उनकी कविता-कर्म की निधि है। सविता सिंह की कविताओं की आलोचना स्त्री चिंतन के फ्रेम में ही हुई है। प्रत्येक स्त्री-कवि और स्त्रीवादी कवयित्रियों की कविताओं को स्त्री विमर्श के खाँचे में डालना भी हिंदी काव्यलोचना की एक साजिश है ताकि मीरा-महादेवी की कविताओं की तरह इन कवयित्रियों को भी सीमित दायरे में बाँध दिया जाय। जबकि स्त्री-कविता जन-सरोकारों की उन तमाम परतों पर अपना पक्ष रखती है जिनसे पूरी दुनिया पल-पल दोचार हो रही है। किसी भी कवयित्री पर किसी एक पदबंध की लेबलिंग उनकी पूरी काव्य-सर्जना की संभावनाओं और विविध-ध्वन्यार्थों को नेपथ्य में स्थिर कर देती है। इस प्रसंग में सविता सिंह की काव्य-सर्जना पर आलोचक मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी ध्यातव्य है- "सविता सिंह की कविता में गहरा आत्मसंघर्ष है और आत्ममंथन भी। उनमें स्त्री की स्वायत्तता का बोध भी है। उस बोध से ही स्त्री स्वाधीनता के परंपराजनित शाप से मुक्त होती है। लेकिन सविता सिंह की स्वायत्तता का बोध व्यक्तिगत को ही राजनीतिक मानने वाली स्त्री-दृष्टि का अनुकरण नहीं करता। उनके स्त्री की व्यक्तिगत स्वायत्तता बोध के साथ सामूहिक चेतना के महत्त्व की पहचान है।"[61] स्त्री-कविता में स्वायत्तता का बोध ही 'पर्सनल' को 'पोलिटिकल' बनाता है। लगभग सभी स्त्री-कवियों ने व्यक्तिगत को राजनीति माना है क्योंकि व्यक्तिगत अनुभव जब कविता का रूप लेता है तब वह व्यक्तिगत रह ही नहीं जाता। कविता उसका प्रसार

सामूहिक भावना में ही करती है। सविता सिंह स्वघोषित स्त्रीवादी कवयित्री हैं। उनकी स्त्री-दृष्टि स्त्रीवादी सिद्धांतों से निर्मित होती हुई मुक्ति की लालसा पर खत्म होती है। कवयित्री का यह 'फेमिनिस्ट पोजीशन और टोन' ही आलोचकों के पूर्वग्रह को दूर करने के लिए काफी है।

कवि-आलोचक विष्णु खरे कात्यायनी की कविताओं की विविध-धर्मिता को देखते हुए उन्हें समकालीन हिंदी कविता की सबसे जुझारू, प्रतिबद्ध, जागरूक और अनूठी कवयित्री मानते हैं - "कला और आस्था के कई खतरे उठाते हुए भी कात्यायनी हिंदी की समूची जुझारू, प्रतिबद्ध कविता में अपने जागरूक वैविध्य से अनूठी उपस्थिति बना चुकी है और विकासशील सशक्त युवा कवयित्री की सुखद रूप से बढ़ती हुई कतार में तो वे अपने तरह की एकमात्र हैं।"[62] कात्यायनी की आस्थागत विचारधारा और कविता के प्रति प्रतिबद्धता को स्वीकारते हुए कवि आलोचक विष्णु खरे 'पुरुष को शत्रु मानने वाली विचारधारा' के मिथ को नहीं भूलते। स्त्री विमर्श, स्त्रीवाद और स्त्री-कविता कभी भी पुरुष को शत्रु नहीं मानती। उनका संघर्ष उस पितृसत्ता से पोषित पुरुषवादी विचारधारा से है जो लैंगिक असमानता को बढ़ाता है और एक लिंग को श्रेष्ठ तथा दूजे को हीन मानता है। इस श्रेष्ठता ग्रंथि की जड़ें ही वर्ण, नस्ल और जाति आदि की हीनता को समाज में शह देती हैं। कुछ कविताओं का उदाहरण देते हुए यह कहना कि फलाना कवयित्री पुरुष वर्ग को शत्रु मानने वाली स्त्री-कवियों या विमर्शकारों से अलग है, न्यायोचित नहीं है। आज जिन पौरुषिक ग्रंथियों से स्त्री समुदाय संघर्ष कर रहा है, कमोबेश उन्हीं ग्रंथियों से एक सचेत संवेदनशील पुरुष भी संघर्ष कर रहा है। दोनों ही कुत्सित यथार्थ के साक्षी हैं। दोनों की लड़ाइयाँ व आत्मसंघर्ष का स्तर भी अलग है। विष्णु खरे की टिप्पणी है कि "उनके अपने जीवन-अनुभव 'इस पौरुषपूर्ण समय में', 'त्रियचरित्रां पुरुषस्य भाग्यम्', 'एक असमाप्त कविता की अति-प्राचीन पांडुलिपि', 'एक भूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना', 'औरत और घर', 'एक गौरतबल सिचुएशन', 'मरना' तथा 'स्वप्नकारा से मुक्ति' सरीखी कविताओं में हैं और उनके क्रोध और विद्रोह को समझने में मदद करते हैं किन्तु जहाँ अधिकांश महिला-लेखिकाएँ,

बुद्धिजीवी समाजकर्मी इस बिंदु पर आकर एक अलगाव से सिर्फ पुरुष-प्रभुत्व को ही अपना शत्रु समझने लगती हैं वहाँ कात्यायनी शायद हिंदी की एकमात्र कवयित्री हैं जिन्होंने एक नयी वर्ग-चेतना अर्जित करते हुए अन्यायग्रस्त, संघर्षगत सर्वहारा नारी-मात्र को वैसे ही पुरुष वर्ग से जोड़ा है। वे कविता में ही नहीं, अपने जीवन में सिर्फ नारी-मुक्ति नहीं, मानव-मुक्ति के सक्रिय आंदोलन से जुड़ी हैं और अविभक्त दृष्टि से समाज को देखना जानती हैं इसलिए उनमें पुरुषमात्र से घृणा और दुश्मनी करने वाला बचकाना नारीवादी मर्ज नहीं है। वे अपने जैसे स्त्री-पुरुष-बच्चे के असली शत्रुओं की शिनाख्त कर चुकी हैं।"[63] उक्त टिप्पणी कवि-आलोचक के स्त्री विमर्श या नारीवाद संबंधी पूर्वग्रह को ही दर्शाती है। नारीवाद को 'पुरुषमात्र से घृणा करने वाला' या 'बचकाना नारीवादी मर्ज' कहना नारीवादी सिद्धांतों और उनकी मूल विचारधारा से जी चुराना है। नारी-मुक्ति और मानव-मुक्ति दो अलग संदर्भ न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। नारी-मुक्ति प्रकारांतर से मानव-मुक्ति की ही विकास यात्रा है। नारीवाद का पूरा संघर्ष ही नारी-मुक्ति को मानव-मुक्ति से जोड़ने का रहा है। कात्यायनी अपनी कविताओं-लेखों और आंदोलनों में बतौर समाजकर्मी नारी-मुक्ति के सवालों को प्रमुखता से उठाती हैं। उनकी वर्ग-चेतना में स्त्री चेतना का मुख्य स्थान है। पुरुष प्रभुत्व को, उनकी पारंपरिक हिंसा वृत्ति को तथा सत्ता सम्पन्न पूंजीवादी ताकतों से जिरह करना, उनकी प्रगतिशील वैचारिक प्रतिबद्धता की पक्षधरता को ही प्रमाणित करता है। स्त्री-मुक्ति या मानव-मुक्ति की राह में कोई एक व्यक्ति या वर्ग शत्रु नहीं है। यह बार-बार कहा गया कि हमारी लड़ाई इस हिंसक-उग्र विचारधारा से है जो पुरुष को अति पुरुष बनाता है या विभिन्न धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक जर्जर हो चुके नियामकों को लादकर उसे हिंसक और उग्र बनाता है। स्त्री-कविता संबंधी इन मान्यताओं को इसलिए भी समझने की आवश्यकता है क्योंकि साहित्येतिहास में स्त्री के अनुभव की प्रामाणिकता को समझने वाला मानदंड अब भी हिंदी काव्यालोचना में नदारद है।

स्त्री-कविता की प्रबुद्ध कवयित्री गगन गिल की कविताओं पर भी आलोचना जगत की टिप्पणी उन्हें एक विशेष खूँटे में ही बाँधने वाली है। उनकी कविताओं को 'आत्म दमन' या 'असमय विराग' या उन्हें विराग की कवयित्री कहना ही आलोचना की कसौटियों को कठघरे में लाता है। प्रश्न उठता है कि क्या कोई भी कविता मनुष्य को विरागमय कर सकती है? अथवा कोई भी कवि या कवयित्री आत्म दमन या विराग को अपनी कविताओं के जरिए संचालित करना चाहेंगे! कहीं ऐसा तो नहीं कि उस आकुल अभिव्यक्ति, राग-विराग, विषाद और विलाप आदि को समझने व समझाने के लिए हमारे पास यथोचित पदबंध या पद्धतियाँ न हों? स्त्री के अनुभव-संसार और रचना संसार को हिंदी काव्यालोचन जगत ने 'अपनी' तरह से व्याख्यायित किया है; उसमें स्त्री-दृष्टि का अभाव रहा है जिसके कारण स्त्री-कवियों या स्त्री-कविता की मूल चिंता पीछे रह गई। प्रो.गोबिंद प्रसाद अपने लेख (*समकालीन हिंदी कविता में स्त्री स्वर*) में गगन गिल की काव्य-सर्जना पर कई गंभीर टिप्पणियाँ करते हैं। उनकी कविताओं में निहित बुद्धत्व और पीड़ा भाव के प्रति कवि-आलोचक प्रो.गोबिंद प्रसाद का रुख अलग है- " 'अंधेरे में बुद्ध' और 'यह आकांक्षा समय नहीं' अंतर्मन की दोहरी परतों में घुसने का प्रयास है, किन्हीं ठोस अर्थों में समाज, लोक या इस संसार को समझना कवयित्री के सरोकार नहीं। कविता एक व्यक्तिगत यात्रा का पथ ढूंढती हुई उस एकांत को तलाश करने निकलती है, जहाँ दुख की जगह आनंद होगा। आत्मा से यह एक एकांतिक यात्रा अवसाद में भीगी यात्रा है।"[64] इसी लेख में आगे वे लिखते हैं - "गगन गिल एक ऐसी कवयित्री हैं जिनके यहाँ प्रश्न, संशय, आकांक्षा, स्वप्न, रहस्य जैसे पद बार-बार आते हैं। इनके पहले ही संग्रह में मृत्यु के प्रति एक अजब आसक्ति दिखाई पड़ती है। उनके यहाँ दरअसल दहशत की हद तक प्रेम है। वहाँ चरम लालसा के क्षण विराग से रंजित है। कभी-कभी लगता है कि गगन सूफियों की डगर पर चलने की लालसा पालती है, लेकिन चल नहीं पातीं (बाद के संग्रह में वे ऐसा करती है) क्योंकि वे मोक्ष को पाप की तरह चाहती हैं और पुण्य की तरह भी। मृत्यु संबंधी कविताओं और चुपचाप विषाद,

कब्र, शोक, सन्नाटा और विलाप से जुड़ी कविताओं की फेहरिस्त इतनी लंबी है कि कभी-कभी इस स्वर की एक रसता असह्य हो जाती है। इनमें आत्मविसर्जन चेतन से अधिक अवचेतन के स्तर पर घुलता दिखायी देता है। एक अनकहे दुख का अवसाद उसमें तैरता रहता है, ऊपर नहीं कहीं गहरे में।"[65]

गगन गिल की कविता और उनके काव्य संबंधी चिंतन के संदर्भ में उपरोक्त दोनों ही टिप्पणी एकांगी दृष्टिकोण को दर्शाती है। कवयित्री स्वयं की कविता में राग ही राग देखती है। उन्हें कहीं भी कविताओं में आत्मदमन या विराग नहीं दिखता। जो दुख, पीड़ा, अवसाद और मृत्यु बोध संबंधी कविताएं हैं वह स्त्री-जीवन के भीतरी तहों से सृजित है न कि किसी दर्शन या डगर की राह से अभिप्रेरित। पुरुष सत्ता ने आज तक मातृत्व, प्रसव और जन्म को ही सराहा है और निःसंतान या बांझपन को स्त्री के संदर्भ में गलीच समझा है। अत: स्वाभाविक है कि उनकी अभिव्यक्ति व समझ उस पीड़ा को छू नहीं पाती जिससे एक बांझ अथवा निःसंतान स्त्री पल-पल गुजरती है। कवयित्री सविता सिंह अपने एक लेख (*हिंदी साहित्य में स्त्री आलोचना: आरंभिक प्रयास*) में गोबिंद प्रसाद के इस विश्लेषण के प्रतिक्रियास्वरूप लिखती हैं "अपनी कविताओं और लेखन में गोबिंद प्रसाद स्वयं स्त्री और दलित प्रश्न को लेकर संवेदनशील हैं, फिर भी उपर्युक्त विश्लेषण में गगन गिल के अनुभव-संसार का उन्हें इसलिए पता नहीं चल पाया है, क्योंकि स्त्री का अनुभव अलग से, उनके लिए, साहित्य में स्त्री लेखन का कोई विशेष आलोचनात्मक तत्व नहीं है। वहाँ वे विश्लेषण करते हुए बौद्धिकता से काम चलाते हैं जिसके मानदंड जरूरी तौर पर 'स्त्रीवादी आलोचना' के विकसित होने मानदंडों में समाहित नहीं किए हुए हैं। 'अनुभव' स्त्रीवादी आलोचना में 'सत्य' का स्थान रखते हैं। ... ... एक स्त्री अपने अनुभवों को उसी तरह व्यक्त करती है, उसके लिखे की प्रामाणिकता उसके यूँ होने से ही व्यक्त हो जाती है। प्रेम पाने की भरसक पागल इच्छा इसलिए होती है, क्योंकि स्त्री को प्रेम, सच्चा प्रेम नहीं मिलता। अक्सर छल, प्रवंचना और मृत्यु ही हाथ लगती है। इसके अलावा गगन गिल के

यहाँ 'बांझपन', यानी निःसंतान होने की स्त्री की गहरी पीड़ा है जो विशेष रूप से उनकी कविताओं का अनुभव-संसार रचती है। उन्हें पढ़ते हुए कहीं भी भाव की एक रसता इसलिए नहीं काटने दौड़ती क्योंकि पीड़ा के भिन्न-भिन्न अनुभव इसे परत-दर-पतर गहरा बनाते जाते हैं। दूसरे के बच्चों को अपना बनाने का, उन्हें प्यार करने और देने का निवेदन, उनकी मनुष्यता का परिचय उनके स्त्री होने के रूप में हमें किन दारुण इलाकों में ले जाता है, यह एक स्त्री होकर आसानी से समझा जा सकता है। करुणा और दुख की कैसी विरल दुनिया है वह, जहाँ यह अनुभव, प्रेम नहीं दे पाने की विवशता, सिर्फ संवेदनात्मक नहीं लगती, बल्कि आस्तित्विक स्तर पर ले जाकर हमें अकेला कर देती है।"[66] सविता सिंह की यह प्रतिक्रिया एक ओर गगन गिल की कविताओं के मर्म को दिखाती है तो दूसरी ओर हिंदी काव्यालोचना पद्धति में स्त्रीवादी आलोचना, स्त्री-दृष्टि और स्त्री अनुभव को आलोचना के तत्व के रूप में जोड़ने की बात कहती है।

गगन गिल की कविताएं काव्यालोचना के लिए एक नयी चुनौती जरूर खड़ा करती हैं। स्त्री-कविता की यह मौलिकता है कि वह फॉर्म (form) और कंटेंट (content) में नया होता है। कविता के पीछे न सिर्फ बौद्धिक तैयारी होती है अपितु स्त्री अनुभव संसार की भावनात्मकता तथा संवेदनात्मकता की अविरल धारा समादृत होती है। गगन गिल की बुद्ध या बुद्धत्व केंद्रित कविताएं, अनामिका की थेरी गाथा केंद्रित कविताएं, कात्यायनी की गुजरात नरसंहार से लेकर सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक मुद्दों के ऊपर लिखी कविताएं, दलित-आदिवासी जगत की कविताएं आदि एक विशेष बौद्धिक तैयारी के साथ लिखी गई अनुभवपरक कविताएं हैं। कविता की पृष्ठभूमि में निहित कवयित्री के होमवर्क को समझना आवश्यक है। गगन के अवसाद और मृत्युबोध को समझने के लिए बुद्ध की मीमांसा को समझना अनिवार्य है अन्यथा वह कोरा 'आत्म दमन' या 'असमय विराग' अथवा 'दुख की कवयित्री' कही जाती रहेंगी। स्त्री-कविता एक सचेत बौद्धिक और संवेदनशील पाठ और पाठक की मांग करती है। गगन गिल

की कविताएं उस क्षितिज से शुरू होती हैं जहाँ सामान्य पुरुष की भावनाएं उबाऊ होने लगती हैं। स्त्री का रोना-धोना या विलाप करना वैसे भी पुरुषों के लिए परिहास का केंद्र रहा है। इसलिए अपने अंतर्वस्तु और शिल्प में भले ही गगन गिल की कविताएं एकरसता और असह्य लगे लेकिन "ये कविताएं प्रार्थना के नए से शिल्प में प्रतिरोध की कविताएं हैं- प्रतिरोध हर उस सत्ता-रूप के सम्मुख जो मानवत्व पर-स्त्रीत्व पर भी - आघात करता है।"[67] प्रतिरोध की यह नवीन तकनीक स्त्री-कविता की निजता और सामाजिकता दोनों को एक साथ प्रतिध्वनित करती है। गगन गिल की कविताओं का सन्नाटा और शोक-विषाद में मानव-जीवन के सार तत्व छिपे हैं जिन्हें स्त्री-दृष्टि और स्त्री के अनुभव को जाने-समझे बगैर जानना संभव नहीं है। उनके पाँचों संग्रह की कविताओं की प्रतिध्वनियाँ एक होते हुए भी जीवन के अलग-अलग दर्शन को ध्वनित करती हैं। 'थपक-थपक दिल थपक-थपक' आधुनिक हिंदी कविता की परंपरा में शिल्प के स्तर पर एक नया प्रस्थान है। 'एक दिन लौटेगी लड़की', 'अंधेरे में बुद्ध' और 'यह आकांक्षा समय नहीं' की कविताएं स्त्री की आत्माबोध की कविताएं हैं। 'मैं जब तक बाहर आई' संग्रह में कवयित्री ने अपने समय के बोध को स्वर दिया है।

स्त्री कविता में आलोचना संबंधी आलोचकों के पूर्वग्रह होते हुए भी उनकी महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। ऐसे अनेक कवि-आलोचक भी हुए हैं जिन्होंने स्त्री-कविता को उनके मूल पाठ में समझने की कोशिश की है। रंजना जायसवाल स्त्री-कविता की वह आवाज हैं जो अपने समय के मठाधीशों, पुरुषवादी तंत्र में स्त्रियों की जहालत आदि का स्त्री मन पर पड़ने वाले प्रभावों की गहराई से शिनाख़्त करती हैं। सदानंद शाही, रंजना जायसवाल की कविताओं पर टिप्पणी करते हैं कि- "रंजना जायसवाल की कविताएं स्त्री मन की कविताएं हैं- एक स्वतंत्र स्त्री मन की कविताएं। स्त्री मन उत्सुकता और कुतूहल जगाता है जबकि स्वतंत्र स्त्री मन अनेक प्रश्नों और आशंकाओं को जन्म देता है। हमारी सामाजिक रचना ने स्त्री मन के साथ स्वतंत्र विशेषण को असंभव कर दिया है। रंजना की कविताएं नए सिरे से स्त्री मन के लिए स्वतंत्र

विशेषण अर्जित करने का यत्न करती हैं।"[68] भारतीय इतिहास में गुलामी, परतंत्रता और स्वतंत्रता संघर्ष में हजारों-लाखों बलिदानों के पश्चात जिस लोकतंत्र को हमने अर्जित किया है वैसे स्त्रियों ने संघर्ष के अथाह सागरों को पार कर अपने लिए स्वतंत्रता या स्वाधीनता अर्जित की है। अत: स्त्री-कविता या स्त्री रचनाशीलता स्त्रियों की स्वाधीनता का पर्याय है। रंजना उस स्वतंत्रता के आत्मघाती तत्वों को अपनी कविताओं में ट्रेस करती हैं। रंजना की कविताएं मनुष्य को उसकी मनुष्यता और प्रकृति को उसकी कोमलता लौटाने की अदम्य लालसा लिए हुए है। कवयित्री जितनी चिंता समाज में स्त्री के सह-अस्तित्व को लेकर करती है उससे कहीं अधिक प्रेम के औदात्य को संवारना चाहती है। वे जानती हैं प्रेम ही प्रकृति और मनुष्य दोनों की सहजीविता का साक्षी रहा है। इसलिए प्रेम का प्रसार प्रकृति की सुंदरता और मनुष्यता को सहेजने का प्रसार है। प्रेम में पड़ा पुरुष भी उन्हें स्त्री होते दिखता है। यह सच भी है कि प्रेम पुरुष के भीतर स्त्रीत्व को जगाता है; स्त्री मन को समझने का एक मौका देता है। इस मायने में प्रेम मनुष्य के हृदय में क्रांति की भांति घटित होता है और उसे पूरी दुनिया के सुंदरता का बोध कराता है। रंजना के अब तक लगभग नौ काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अब भी उनकी आस बनी हुई दिखती है। उनका अद्यतन प्रकाशित काव्य संग्रह 'खंड-खंड स्त्री' में वे 'स्त्री का अर्थ' अर्थात् स्त्री होने के अर्थ को सरलता से स्पष्ट करती है। उनकी कविताओं को जो चीज सबसे अलग करती है वह है उनका स्त्री को देखने का नजरिया। परंपरा प्रदत्त स्त्री के नजरिए को खारिज करते हुए रंजना अपने समय के बोध से स्त्री को देखने का नया नजरिया अख्तियार करती हैं। यही नजरिया उन्हें पितृसत्ता के नवीन गिरोहों और तरीकों को भी समझने में मदद देता है।

स्त्री-काव्य परंपरा में अपने 'अनोखे, दृश्य, चित्र, बिंब, प्रतीक और विचार' के साथ अनीता वर्मा की कविताएं भी हिंदी आलोचना की कसौटियों में कुछ नया जोड़ने पर निष्ठापूर्वक आग्रह करती हैं। उनकी कविताओं की विरलता और नवीन भाषिक विन्यास स्त्री अनुभव संसार के विस्मयकारी रूपों और आत्मकथ्यों को नवीन बिंबों के सहारे सामने लाता है। अनीता वर्मा

की काव्य संवेदना लोक-आलोक, निजी-निजेतर तथा अतीत-वर्तमान-कालातीत घटनाओं को जेंडर के लेंस से देखकर उसकी साधारणता को सूक्ष्मता और असाधारणता में बदल देती है। कवि-आलोचक और संपादक लीलाधार मंडलोई ने अनीता वर्मा के इस 'देखने के हुनर' को पहचाना है- "एक कवि का विस्मयकारी पक्ष होता है- 'देखने का हुनर'। वह दूसरों से अलग होता है। वह चीजों के पास समूची और बाज़दफा अदेखी संवेदन-शक्ति के साथ पहुँचता है। और अबेरता है अनोखे दृश्य, चित्र, बिंब, प्रतीक और विचार। अनीता उन कवियों में शुमार हैं जिनमें चीजों के पास जाने की विरल ऐंद्रिय क्षमता है। चीजों के अलावा गुणों, अवगुणों, रहस्यों और भेदों में जाने की दुस्साहसिक पहल है।"[69] स्त्री का देहरी-परिधि आदि के पार जाना हमेशा से दुस्साहसिक ही रहा है। लेकिन कवयित्री का दुस्साहसिक कदम सृजनधर्मी लोक को उर्वर बनाने वाला है। दिखे में अदेखी व्यंजनाओं और गहरी विकलताओं को कविता के रूपकों में बाँधती कवयित्री स्त्री-कविता के अलग स्वभाव को सुनिश्चित करती है। 'बूढ़ानाथ की औरतें' का समय के विकास के साथ नगरवधू ही बने रहना, 'झारखंड' कविता में झारखंड राज्य की वर्तमान अस्मिता, 'स्त्री का चेहरा' की परतदार चिंताएँ आदि कई अनोखे दृश्य हैं जो सामान्यत: देख कर भी दिखाई नहीं देते। 'महज नाम नहीं' कविता सत्ता और तंत्र की क्रूरता और न्याय-तंत्र पर घटते विश्वास की साख को दिखाती है। आत्महत्या किसी भी व्यवस्था के लिए अब बस आँकड़ा भर है। संवेदनहीन व्यवस्था इन आकड़ों के खेल में संलिप्त मानवतत्व को लीलती जा रही है। जबकि कवयित्री अंत समय तक 'हृदय' और 'शब्दों' को बचाना चाहती है ताकि उसकी मार्मिकता बनी रहे। कवयित्री ने जिस तरह से हमारे समय के आकुल यथार्थ को समझा है वह गहरे अंधेरे में रोशनी की तलाश के सदृश्य है। स्त्री के साहसिक-दुस्साहसिक चित्र उनके अपने जीवन संदर्भों से लदे-फदे हैं इसलिए ये स्त्रियाँ अपने मौन का प्रतिकार भी नीरवता में करती हैं। उनकी कविताओं का यह अंदाज-ए-बयां ही पाठकों को आकृष्ट करती है। कवयित्री की इस विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कवि-आलोचक पंकज चतुर्वेदी की टिप्पणी

उल्लेखनीय है- "खास बात यह है कि उन्होंने अभिव्यक्ति की एक चटख, अलंकृत या दबावदार शैली का मोह संवरण करते हुए भरसक सादा, गंभीर और गरिमामय ढंग को अपनाया है। उनकी कविता में एक पारदर्शी और मननशील संवेदना का ताजगी-भरा संस्पर्श है। इसलिए प्रकृति के दुर्गम दृश्यों की ओर उनकी निगाह जा पाती है और आत्मा के अब तक अदेखे या अनजान रह गए आयामों की ओर भी।"[70] अनीता वर्मा की कविताएं अपने भीतर और बाहर के संसार में ऐसे आवाजाही करती ही हैं इसलिए कि इस अनात्म, अनजान और अदेखे को खुली आँखों से देख सकें। उत्सुकता, कुतूहल जितना कवयित्री के भीतरी संसार में बना रहता है उतना ही या उससे अधिक बाहरी संसार में वह दिखता है। पंकज चतुर्वेदी का यह कथन उनकी कविताओं में निहित सघनता को 'पारदर्शी' व 'मननशील संवेदना' के रूप में समझाता है। कवयित्री का मूल स्वर आत्मिक भावों को बिंब, प्रतीक व रूपकों के सहारे अभिव्यक्त करने का रहा है। इसलिए वे भाषा की अनगढ़ता को भी सुदृढ़ता प्रदान करती है। प्रकृति प्रदत्त आसक्ति स्त्री-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। स्त्री और प्रकृति की घनिष्ठता को कवयित्री ने जिस कायांतरण भाव से जाना है वह सचमुच में 'पेड़ को पेड़ की तरह जानना' ही है। स्त्री-कविता के इन ऐंद्रिय भाव गुणों को अलग से रेखांकित करने की आवश्यकता है।

स्त्री-कविता में दलित और आदिवासी स्वर निरंतर सहानुभूति व स्वानुभूति के स्तर पर सामाजिक न्याय के सवालों को उठा रहा है। दलित स्त्री की अस्मिता और आदिवासी स्त्री की अस्मिता में मूलभूत अंतर होते हुए भी उनका आत्मसंघर्ष उन्हें एक राह पर ला खड़ा करता है। तथाकथित मुख्य धारायी समाज द्वारा उपेक्षित-पददलित ये स्त्रियाँ अपने स्वाभिमान और अधिकार की लड़ाई स्वयं लड़ रही हैं। अपने समाज की पुरुषवादी यातनाओं से भी ऊबकर ही इन्होंने कलम उठाई है। 'मैं लड़ती हूँ स्वाभिमान के लिए' और 'तेल की धार न देखो, देखो कलम की धार' उक्ति दलित और आदिवासी समाज के जागरण का प्रतीक है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' आदि दलित कवयित्रियाँ अपने स्त्रीत्व और सामाजिक

न्याय के सवालों को साथ-साथ उठाती हैं। ठीक उसी तरह निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, वंदना टेटे, जसिन्ता केरकेट्टा आदि आदिवासी कवयित्रियाँ अपने जल जंगल जमीन को जुबान देते हुए आदिवासियत को बचाना चाहती हैं। अभी हिंदी काव्यलोचना जगत में स्त्री-कविता के इस अनुभव संसार को समझने के लिए अलग से कोई पद्धति या पदबंध निर्मित नहीं हुए हैं। गाहे-बगाहे इसकी चर्चा जरूर शुरू हो रही है। आदिवासी और आदिवासियत की दुनिया हिंदी की सुदृढ़ काव्य-परंपरा के लिए एक नयी दुनिया है जिसे निरंतर समझने के प्रयास हो रहे हैं। विभिन्न आदिवासी बोली-भाषाओं से हिंदी में अनुदित जो रचनाएं और अनुभव आ रहे हैं, वह चौंकाने वाले तो हैं ही, एक नए लोक का साक्षात्कार भी करा रहे हैं। निर्मला पुतुल की कविताओं का लोक एक ऐसा ही लोक है जो अपनी वास्तविकता में जितना नायाब है उस लोक हो रही क्रूर हिंसा उतना ही भयावह भी है। विकास की विध्वंशक बयार ने इनकी अस्मिता और प्राकृतिक विरासत को नष्ट किया है। निर्मला पुतुल मूलतः संताली भाषी हैं। उनकी कविताओं में 'संथाल परगना' के आदिवासी जीवन और उसमें भी आदिवासी स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण बख़ूबी हुआ है। अपनी जड़ों से उखड़ने और निरंतर विस्थापित होने का दर्द कवयित्री की पीड़ा का केंद्र है। आदिवासी मूल्यों के विघटित होने से नयी पीढ़ी पथभ्रष्ट न हो जाएं ; जल, जंगल, जमीन, नदियाँ, फल, फूल, पेड़ आदि की आदिवासियों से आत्मीयता विस्मृत न हो जाएं, इसके लिए वे अपनी पीढ़ी को व्यवस्था के प्रलोभन रूपी दमन चक्र से सचेत रहने को कहती हैं। आदिवासी सभ्यता-संस्कृति और जीवन शैली को बचाने का यह प्रकल्प कवयित्री के जीवन का एकमात्र साध्य है। 'नगाड़े की तरह बजते शब्द', 'अपने घर की तलाश में' तथा 'बेघर सपने' की कविताएं आदिम लोक की स्मृतियों, सांस्कृतिक चिन्हों और आदिवासी की ऐतिहासिकता से पटी पड़ी हैं। कवयित्री व्यवस्था की विद्रूपता और अपने समाज में फैली कुप्रथाओं तथा स्त्रियों के दोहरे-तिहरे दैहिक-मानसिक-आर्थिक शोषण पर कटाक्ष करते हुए एक नयी संघर्ष चेतना को विकसित होते देखना चाहती है। इसलिए उनकी कविताओं में स्थान, पात्र, घटना-दुर्घटना आदि

का नाम सहित दर्ज होना एक व्यापक परिदृश्य को बनाता है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि अरुण कमल निर्मला पुतुल की कविताओं में अनुस्यूत सामाजिक-राष्ट्रीय विकास को चुनौती देती कविताएं 'सामाजिक-सांस्कृतिक श्वेत-पत्र' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। वे लिखते हैं : "मूलतः संताली भाषा में लिखी सुश्री निर्मला पुतुल की कविताएं एक ऐसे आदिम लोक की पुनर्रचना हैं जो आज सर्वग्राही वैश्विक सभ्यता में विलीन हो जाने के कगार पर है। आदिवासी जीवन, विशेषकर स्त्रियों का सुख-दुख अपनी पूरी गरिमा और एश्वर्य के साथ यहाँ व्यक्त हुआ है। आज की हिंदी कविता के प्रचलित मुहावरों से कई बार समानता के बावजूद कुछ ऐसा तत्व है इन कविताओं में, संगीत की एक ऐसी आहत और गहरा आर्तनाद है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इन कविताओं की दुनिया बहामुनि, चुड़का सोरेन, सजोनी किस्कू और ढेपचा की दुनिया है, फूलों-पत्रों-मादल और पलाश से सज्जित एक ऐसी कठोर, निर्मम दुनिया जहां 'रात के सन्नाटे में अँधेरे से मुँह ढाँप रोती हैं नदियां'। यह दुनिया सिद्धू-कानू और बिरसा के महान वंशजों की दुनिया भी है, 'पहाड़ पर अपनी कुल्हाड़ी की धार पिजाती' दुनिया। वह आदिम संसार अपने सर्वोत्तम रूप में 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' कविता में व्यक्त हुआ है। यह ऐसी कविता है जिसमें एक साथ आदिवासी लोकगीतों की सांद्र मादकता, आधुनिक भावबोध की रुक्षता और प्रतिरोध की गंभीर वाणी गुम्फित है।"[71] आदिवासी स्त्री-कविता के आदिम संसार में मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे के पर्याय हैं। उनका अस्मितामूलक सामाजिक संघर्ष प्रकृति का भी संघर्ष है। निर्मला पुतुल अपने काव्य-संसार में हाशिए पर आ चुके आदिवासी समाज की भूख, बेरोजगारी, लूट-मार, बेतहाशा आदि को आत्मानुभूति के स्तर पर चित्रित करती हैं। इस दुनिया के भीतर भी दो दुनिया है ; एक जो चुड़का सोरेन, बहामुनि, ढेपचा, भाई मंगल बसेरा आदि पुरुषों की है और दूसरी सजोनी किस्कू, बिटिया मुर्मु, पिलचू बूढ़ी, सुगिया आदि की। समाजशास्त्रीय आँकड़े सिद्ध करते हैं कि आदिवासी स्त्रियों का यौन-शोषण स्त्री जीवन में होने वाले भयावह यथार्थ को बार-बार दोहराता है। घर के बाहर और भीतर, दिन हो या रात एक आवाज उनके रुंहों में सिहरन पैदा कर

देता है। बलात्कार, दैहिक-शोषण जैसे उनकी नियति बन गई है। सभी आदिवासी स्त्री-कवियों ने बलात्कार का वर्णन किया है। व्यक्ति की हैवानियत और नृशंसता इस हद तक बढ़ चुकी है कि एक स्त्री अपने घर के भीतर बंद कमरे में भी खुद को असुरक्षित महसूस करती है। निर्मला पुतुल की 'सबसे डरावनी रात', 'दामिनी', 'और तुम बांसुरी बजाते रहे', 'मिटा पाओगे सब कुछ' आदि कविताओं में दैहिक शोषण की दारुण अभिव्यक्ति हुई है। कवयित्री की सामाजिक दृष्टि हो या राजनीतिक दृष्टि सभी स्तर पर वे आदिवासी अस्मिता के सवालों के साथ जिरह करती हैं। कलावादी समीक्षक या आलोचक बिना इस अनुभव-संसार ; उनकी यंत्रणाएं, यातनाएं और आदिवासी परिदृश्य को समझे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाएंगे। आदिवासी-लेखन में जिस कारुणिकता का निदर्शन हुआ है अपने वास्तविक रूप में वह अब भी भयानक है। आज भी देश के अधिकांश आदिवासी हिस्सों में नक्सल आंदोलन सक्रिय है। सत्ता का पुलिसिया तंत्र उनके समाज में दहशत का माहौल बनाए हुए है। जब नक्सली और व्यवस्था के बीच हिंसा के रूप में भिड़ंत होती है, दोनों ही तरफ मौत का मंजर आम आदमी के घर ही लगता है। संवाद की जगह भय और ताकत अपना प्रभुत्व दिखाने वाली सत्ता तंत्र पूंजीवादी व्यवस्था का हथियार बन चुका है। आदिवासी-लेखन इन हिंसक वृत्तियों के पार अपनी पहचान और अपने हक़ का संवैधानिक अधिकार चाहता है, स्वतंत्रता से जीने का अधिकार और मनुष्य समझने का अधिकार।

हिंदी काव्यलोचना की परंपरा में स्त्री रचनाशीलता, स्त्रीवादी आलोचना और स्त्री विमर्श आदि उन साहित्यिक दृष्टियों का उन्मेष है जिनकी आवश्यकता आधुनिक युग की मांग है। आधुनिकता बोध से संचालित इन विमर्शों को किसी विशेष सींखचों में बाँधकर न ही देखा जा सकता है और न ही उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। स्त्री-कवियों की अपनी दुनिया है जो अब कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, आत्मकथाओं तथा अन्य विधाओं के मार्फत सामने आ रही है। मीडिया एवं सोशल मीडिया आदि तकनीकों ने स्त्री की आत्माभिव्यक्ति को एक नया

मंच दिया। सत्ता के बढ़ते निरंकुशता, नृशंसता के बावजूद स्त्रियाँ पितृसत्ता की जंजीरें तोड़कर आगे बढ़ रही हैं, उनके साथ योग्य, सचेत, सम्यक दृष्टि से सम्पन्न पुरुष भी उनके सहयोगी की भागीदारी निभा रहे हैं। एक नयी दुनिया निरंतर बन रही है और स्त्रीत्व का विस्तार भी पहले से अधिक व्यापक विस्तृत हो रहा है ऐसे में उनके समक्ष चुनौतियों की विकरालता भी विषैले गैस की भांति उनके आसपास बढ़ रही है। साझा विकास के उपक्रम में ऐसी अनेक ताक़तें हैं जो धर्म, संस्कृति, परंपरा, शास्त्र-ग्रंथ आदि की मनगढ़ंत व्याख्याओं के साथ स्त्री को पुनः उसी देहरी में कैद करना चाहती हैं जिसकी बेड़ियाँ तोड़कर स्त्रियों ने अपना नवीन इतिहास लिखा है। दैहिक हिंसा, बलात्कार, हत्या, चरित्र हनन, पोर्न उद्योग के साथ ही बाजार, फैशन की चकमक दुनिया और टेलीविज़न जगत, पूंजीवादी पितृसत्ता का नया हथियार है। इन हथियारों और कोरी भावुकता के केंद्र में स्त्री देह को उत्पाद बनाना ही ध्येय है। स्त्री-कविता इन सभी कूटनीतिक आत्मघाती प्रलोभनों का रचनात्मक प्रतिरोध निरंतर कर रही है। जरूरत उन्हें पहचानने और प्रसारित करने की है। पारंपरिक दृष्टि एवं साहित्येतिहास में जड़ हो चुकी काव्य-दृष्टि से स्त्री-कविता के गूढ़ार्थों की पहचान संभव नहीं है। पितृसत्ता से ग्रसित मानसिकता स्त्री-कविता के अनुभव-संसार एवं अनुभूतित आत्मकथ्य को कोरा विलाप ही समझेगी। यह मनुष्यत्व को उसकी मनुष्यता लौटाने की लड़ाई है जिसे साझा रूप से ही लड़ा जा सकता है। स्त्री-कविता पर प्रमुख आलोचकों का दृष्टिकोण कहीं-कहीं पूर्णत: पितृसत्ता समर्थक होने के साथ ही आत्मनिष्ठता का भाव लिए हुए है। स्त्री-कविता का स्वर विविधधर्मी है, विभिन्न वर्ग, प्रांत, जाति, नस्ल, परिवेशगत वातावरण और देह संबंधी अंतर्विरोध आदि अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं। उन्हें समझने के लिए एक नए पाठ की आवश्यकता है। वर्गीय चेतना, दलित-आदिवासी चेतना तथा मुख्यधारा का छद्म आदर्श मॉडल आदि के मध्य अंतर्निहित महीन धागों को पकड़ना होगा तभी हम उन्हें समरूपता प्रदान कर सकते हैं। परिवेशगत भिन्नता और वर्गीय चरित्र के अंतर्संबंधों को प्राथमिकता के स्तर पर समझ सकते हैं। अनामिका, सविता

सिंह, गगन गिल आदि कवयित्रियाँ जिस बहनापा भाव और मानत्व के सहारे स्त्रीत्व को आकार देना चाहती हैं, कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, रंजना जायसवाल, शुभा, अनीता वर्मा आदि कवयित्रियों की कविताएं उसी बहनापा भाव, मानत्व और स्त्रीत्व को व्यापक सामाजिक-राजनैतिक जागरण के सामूहिक उत्सव के रूप में देखना चाहती हैं। इस फहरिश्त में दलित और आदिवासी कविता का स्त्री-स्वर सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान के भाव के साथ प्रकृति की मोहकता को अस्तित्वगत पहचान देना चाहता है।

iv. स्त्री-कविता में स्त्री-दृष्टि :

समकालीन स्त्री-कवियों ने वैचारिक स्तर पर अपनी परिधि का विस्तार करते हुए स्त्री-दृष्टि की मौलिक अवधारणा को स्थापित किया है। स्त्री-कविता उन तमाम अछूते सवालों, संदर्भों अथवा प्रसंगों से अपने को जोड़ती है जो अब तक स्त्रियों के लिए वर्जित क्षेत्र समझे जाते थे या बनाए गए थे। औद्योगिक क्रांति, प्रेस का आगमन तथा वैज्ञानिक चेतना आदि के प्रभावों ने स्त्री-वर्ग को एक नयी स्फूर्ति दी। इस स्फूर्ति में शैक्षिक संवेदना का अहम रोल था। नौवें दशक में अचानक ही कार्यक्षेत्र में स्त्रियों का हुजूम नहीं उतरा था बल्कि इसकी पृष्ठभूमि स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान से ही बन रही थी। एक ओर समाज सुधारकों, स्वतंत्रता सेनानियों ने स्त्री-शक्ति को पहचाना और उन्हें धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों से आजाद कराया तो दूसरी ओर स्त्रियों ने भी अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति सचेत होकर समाज में अपनी पहचान को स्थापित किया। ग्राम से विश्व स्तर तक की समस्याओं – युद्ध-दंगा, जाति व नस्लगत भेदभाव, पर्यावरण संकट, मानवतावाद, अर्थनीति, विदेश नीति, राजनीति, भ्रष्टाचार, स्त्री-हिंसा, शिक्षा तथा संस्कृति आदि विषयों पर स्त्री-कवियों ने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया। निश्चित रूप से उनका यह रुख समाज-राजनीति में बनी-बनाई धारणा से बिल्कुल जुदा है। इतिहास, धार्मिक आख्यान, स्त्री संबंधी पौराणिक कथाओं, वेद-शास्त्र तथा अपने समकाल को स्त्री-कवियों ने नितांत एक नए रूपक में देखा, समझा है तथा उन प्रसंगों-कथाओं-पुराकथाओं-श्लोकों-मंत्रों आदि जिसमें स्त्री वस्तु या पुरुष की अंकशायिनी आदि बताया गया, उन्हें प्रश्नांकित किया है। इसी तथ्य को रोहिणी अग्रवाल अपने एक लेख 'पितृसत्तात्मक व्यवस्था की संरचनात्मक पड़ताल' में लिखती हैं : "स्त्री को लेकर भारतीय साहित्य, दर्शन एवं धर्मशास्त्रों में चिंतन की सुदीर्घ परंपरा रही है जहां स्त्री की सम्पूर्ण सत्ता को भोग्या, अबला, ललना, कामिनी, रमणी आदि विशेषणों के साथ हेय एवं पुरुष सापेक्ष रूप में चित्रित किया गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन एवं मध्ययुगीन सभी रचयिता एवं टीकाकार पुरुष थे। दूसरे, मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अपदस्थ

होने के बाद से समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विधान रहा है। फलतः स्वाभाविक था कि पुरुष के संदर्भ में पुरुष दृष्टि द्वारा स्त्री को देखा जाता। इसलिए पुरुष की श्रेष्ठता, सम्मान, स्थान, शक्ति, अधिकार और स्वार्थ की रक्षा के लिए धर्मशास्त्रों ने अनेक ऐसे आप्तवचनों, सूत्रों, श्लोकों की रचना की जिन्होंने स्त्रियों के जीवन को अनेक सामाजिक-नैतिक अर्गलाओं में बाँध दिया।"[72]

आज की स्त्री-कवि सत्ता-व्यवस्था की निरंकुशता को सीधे ललकारती है ; उसके कूटनीतिक चेहरे, साम्प्रदायिक मंसूबे तथा स्त्री की यौनिकता पर हमला, अपराधियों का संरक्षण आदि को एक धमाके के साथ पर्दाफाश करना चाहती है। साहित्य, कला तथा भाषा संबंधी जड़ अवधारणा पर भी कवयित्रियों ने अपने पक्ष को सादगी से रखा है। भाषा की नयी उड़ान तथा कविता की आत्मीयता लिए वह बार-बार एक नए संधान पर निकलती है। गगन गिल, अनामिका, कात्यायनी आदि कवयित्रियों ने समकालीन कविता में ही नहीं, अपितु पूरी साहित्यालोचना में नए मुहावरों को प्रतिष्ठित किया। उनकी कविता-भाषा-आलोचना संबंधी पदबंधों को आलोचकों ने साहित्य जगत में खूब भुनाया। गगन गिल अपने एक लेख में 'स्त्री-दृष्टि' को परिभाषित करते हुए लिखती हैं : "सृष्टि अपने कुछ रहस्य एक स्त्री-दृष्टि की प्रत्याशा में छिपाये रखती है, कुछ वैसे ही जैसे एक पौरुष की आकांक्षा में वह नित्य नए महा-सत्य प्रस्तुत करती है। यहाँ मैं स्त्री दृष्टि की बात कर रही हूँ। स्त्री की दृष्टि की नहीं। जरूरी नहीं कि एक स्त्री के पास स्त्री-दृष्टि हो ही। बल्कि हममें से अधिकांश तो स्वयं को, स्वयं की दुनिया को, एक मानक पुरुष दृष्टि से देखने की इतनी सहज अभ्यस्त हैं कि किसी दूसरी तरह से स्वयं को देख पाना हमारे लिए मुश्किल होगा।"[73] स्त्री-कवियों ने कविता के साथ एक संवेदनात्मक अंतर्संबंध स्थापित कर लिया है – जैसे कविता उनके लिए पारिवारिक सदस्य हो, दैनिक जरूरत हो। कात्यायनी के लिए तो यह सर्वथा बुनियादी जरूरत है : "कात्यायनी के लिए कविता जीवन, सृजन और संघर्ष की बुनियादी ज़रूरत या औज़ार है, या फिर सुदूर भविष्य से आती क्षीण-सी पुकार पर कान देने का एक आतुर प्रयास।"[74]

स्त्री-दृष्टि की निर्मिति में इन आत्मगत धारणाओं का अहम् योगदान है। कवयित्री सत्ता व्यवस्था के वहशीपन को दरिंदगी के स्तर तक देख और भोग चुकी है। इसलिए वे इसका प्रतिकार प्रेम, संघर्ष तथा इंकिलाबी जज़्बातों के साथ करना चाहती है। कवयित्री सड़क से सत्तातंत्र तक में चल रही कूपमंडूकता की परते खोलती है। कॉमरेडशिप, प्रेम और क्रांति कात्यायनी की कविता का स्थाई भाव है। इसी त्रिकोण दृष्टि से उनकी काव्य-दृष्टि व मौलिक चिंतन का आभास होता है। उनकी काव्य-दृष्टि और रचना-दृष्टि ही स्त्री-कविता की नींव है। स्त्री-कवियों में संभवतः कात्यायनी ने ही सबसे अधिक प्रेम कविताएं लिखी हैं और उन्होंने ही सबसे अधिक कविता को क्रांति के तेवरों से, इंकिलाबी शब्दों से सत्ता में बैठे मानुषखोरों को चेताया है। 'गुजरात 2002' सीरीज की कविताएं हों या 'नतीजे के तौर पर', 'मरते हुए लोग', 'युद्ध और कला', 'वे अपने मृत्युलेख लिखते हैं', 'एक ढलती सदी का सच' आदि मार्मिक कविताएं सामाजिक बर्बरता को दर्शाता है। इन सामाजिक बर्बरता के पक्ष में खड़े लोगों से लड़ने का एकमात्र हथियार प्रेम और संघर्ष ही है। इसलिए कवयित्री प्रेम के दामन को तथा आम आदमी के व्यवहारिक जीवन शैली को थामे रहती हैं। स्त्री-जीवन का अनुभव जगत जब अपनी देहरी पार करता है तो उनकी दृष्टि का किस कदर विस्तार होता है, इसकी मिसाल है कात्यायनी की कविताएं। कात्यायनी की दृष्टि उस आमफहम जीवन पर ही केन्द्रित रहती है। मैनेजर पाण्डेय कात्यायनी की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए लिखते भी हैं : "कात्यायनी की कविताओं में भावावेग है और सहजता में रची-बसी विदग्धता भी। उनकी कविताओं में विद्रोह की आकांक्षा और आकांक्षा के विद्रोह की ऐसी अभिव्यक्ति है, जो स्त्री-जीवन के बारे में नए ढंग से सोचने की प्रेरणा देती है।"[75] स्त्री-जीवन को नवीन दृष्टि से परिभाषित करना कात्यायनी की स्त्री-दृष्टि में निहित है। अपने समकालीन कवियों, काव्य मुहावरों से अलग राह पकड़ उनकी कविताएं उस जन अथवा समूह को आलोचना के केंद्र में लाती हैं जिन्हें हम आम आदमी कहते हैं। कात्यायनी की समकालीन अनामिका, शुभा, गगन गिल, सविता सिंह, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी,

रंजना जायसवाल सरीखी कवयित्रियों ने अपनी कविताओं के जरिए विश्व को देखने का एक अलग नज़रिया विकसित किया है। अपनी जीवंत सांस्कृतिक परंपरा के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात करते हुए पारिवारिक-सामाजिक चिंताओं को स्त्रीत्व के नजरिए से देखना तथा उसके समाधान हेतु विचार प्रस्तुत करना और संवाद हेतु आग्रह करना आदि स्त्री-कविता को मानवीय संवेदना से पूरित करता है।

स्त्री-कविता की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उसमें परिवार, समाज तथा विश्वायन के अनुभव लोक और लोकभाषा शामिल है जिनसे पुरुष समाज प्रायः अलग रहा है। वह चाहे घर के भीतर व्यक्ति नियोजन हो अथवा स्त्री की देह संबंधी नियामक ऋतुस्राव, प्रसव-जन्म तथा उसके बाद का क्रमण-संकुचन हो या घर के बाहर सम्मानित-अपमानित और अपराध की शिकार हुई, अपनी जिजीविषा को बनाए रखने की ललक आदि सभी अनुभवों के समुच्चय ज्ञान ने उन असामाजिक ताकतों से लड़ने की जो अहिंसक दृष्टि प्रदान करती है उसे ही स्त्री-कविता की स्त्री-दृष्टि से पहचाना जा सकता है। मनुष्यता, मानवतावाद तथा मनुष्य को संवेदीकृत करना आदि स्त्री-दृष्टि की पहली शर्त है। कुछ इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करती हैं अनामिका की कविताएं एवं उनके चिंतनपरक निबंध। अनामिका स्त्री-दृष्टि को मात्र एक पंक्ति में परिभाषित करते हुए लिखती हैं "करुणा संवलित न्याय-दृष्टि ही सच्ची स्त्री-दृष्टि है!"[76] अनामिका की काव्य-दृष्टि ही नहीं, अपितु काव्य-संसार का अनुभव भी व्यापक है। उन्होंने स्त्रीत्व के आदिरूपों को कविता में स्थापित किया है। उनकी कविताएं इतिहास, संस्कृति तथा लोक-कथाओं की गहरी छानबीन कर उसे कविता के रस में पूरे मनोयोग से ढालती हैं। कविता के जरिए सविनय अवज्ञा व हृदय परिवर्तन की आस अनामिका की मातृमना दृष्टिपरक कविताएं करती हैं। वर्ग, वर्ण तथा नस्लगत आदि ग्रंथियों से विलग एक व्यापक विश्व-दृष्टि का परिचय देती हैं अनामिका की कविताएं – "देखने की कुव्वत पैदा हो जाए अगर तो दीख सकता है / हर आदमी प्यारा, / हर चेहरा न्यारा / किसी-न-किसी कोण से!"[77] यह कुव्वत पैदा हो इसके लिए जरूरी है समाज

में, परिवार में, स्त्री-पुरुष के निजी संबंधों में अतिवाद न हो। मानवीय संवेदीकृत मूल्यों के संवहन एवं हस्तांतरण द्वारा ही वह कुव्वत पैदा हो सकती है और उसका संचार भी संभव है।

स्त्री-कविता की परंपरा में अनामिका का स्थान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है क्योंकि वह ग्रामीण और शहराती अनुभवों को भाषा की, स्मृतियों की तथा उसी के सम्मुख राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय ज्वलंत मुद्दों पर स्पष्ट राय रखती हैं। बनी-बनाई अवधारणा को चुटकियों से बदलने का आग्रह करती हैं। उनकी 'वृद्धाएं धरती का नमक है', 'एक पगलेट कथा', 'गणतंत्र दिवस', 'उसने कहा था', 'कूड़े में पन्नियाँ', 'थर्मामीटर', 'द्वार छेंकाई', 'पुराना कोहबर', 'भेड़िया', 'नसीहत', 'स्त्री-सुबोधिनी : उत्तर कथा : शूर्पणखा', 'महिला पहलवान', 'रस्वन्ती' तथा 'चौदह बरस की कुछ सेक्स-वर्कर्स' आदि कविताओं में जिन कथाओं को पिरोया गया है उनमें मानवता का सार तत्व मौजूद है और स्त्री-दृष्टि भी। घर की वृद्धाओं को धरती का नमक कहना, 'जानबूझकर लक्ष्य से भटके तीर या घोड़े की घास से दोस्ती या उठता हुआ फावड़ा आदि को दुनिया के सबसे सुंदर दृश्य के रूप में देखना, हिंसक शब्दों ('आतंक', 'अगवा', 'आगजनी' और 'हाईजैकिंग' आदि) से अपने बच्चों के भीतर शांति की बारिश को महसूस करना, 'तर्क और प्रमाण से परे' बातों को समझना, औरतें-बच्चे की आवेश में कही हुई बातों की दूरदर्शिता एवं गूढ़ार्थ को समझना, बलात्कृता को देवी सरस्वती के आदर्श के रूप में समझना, युद्ध के बदले कुटिल युद्ध की भीषणता का निस्तार करना तथा जंजाल में फंसी पीड़ितों को जाल सहित उड़ने की इल्तिज़ा करना आदि अनामिका की स्त्री-दृष्टि के सम्यक दर्शन को परिपूर्ण करता है। स्त्री-केन्द्रित उनकी कविताएं और भी वाग्धारा के साथ लयबद्ध रूप में बढ़ती है। अपने समय और समाज के प्रति स्त्रियों के दाय को अनामिका का स्त्रीत्व भलीभाँति जानता-समझता है इसलिए उनकी लेखनी में अतिवाद का अतिक्रमण नहीं होता ; संतुलित, समन्वित रूप में वह अपने ग्राम-समाज के साथ ही अपने विश्वायन स्वरूप को भी स्थापित कर देती हैं।

इस विश्वायन स्वरूप को मनोवैज्ञानिक स्तर पर कविता में पिरोने वाली स्त्री-कविता की प्रमुख हस्ताक्षर गगन गिल की काव्य-दृष्टि भी उस स्त्री-दृष्टि की परिधि का विस्तार करती है।

गगन गिल की कविताएं सघन अनुभूतियों का पुंज है। उनकी काव्य-यात्रा मानवीय संवेदना के व्यापार की यात्रा है। मानव-जीवन के दुख-पीड़ा-अवसाद-संताप आदि करुणाकलित भावों की मीमांसा ही उनकी कविता का ध्येय है। साहित्य की विराट समाहार शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास है। स्त्री-जीवन की उन तमाम अचर्चित-अवर्णित मनोग्रन्थियों की पड़ताल गगन गिल अपनी कविताओं में करती हैं। दुख या करुणा की कवयित्री कहकर सहजता से निकल जाना आसान है ; कठिन है उनके कविता के मर्म तक पहुँचना, उनकी काव्य-चिंतन और साहित्य चिंतन की सूक्ष्म दृष्टि को समझना। देह-विदेह, आत्मा-परमात्मा, पाप-पुण्य, ईश्वरीय आलाप, बुद्धत्व की साधना आदि उनके चिंतन के बीजशब्द हैं। स्त्री-जीवन के संदर्भ में इन पदबन्धों का विशेष महत्त्व है। गगन गिल की कविताओं में अभिव्यक्त स्त्री-दृष्टि का आधार बुद्धत्व के आत्मदीपोभवः का भाव है। इसलिए करुणा उनकी कविताओं का स्थाई भाव है बावजूद इसके जीवन का उल्लास वे इसी में खोजती हैं। 'वह उससे मिलने जा रही है' कविता इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करती है : "पेड़ कहते हैं टहनियों से / टहनियां कहती हैं पत्तियों से / धूप कहती है हवा से / आकाश कहता है खुद से वह उससे मिलने जा रही है... ... उसे नहीं मालूम / मृत्यु रखती है चुपके से अपना हाथ / उसकी पीठ पर / अब / जब वह मिलने जा रही है।"[78] मृत्यु के क्षण में भी जीवनोत्सव का यह बोध ही जीवन दर्शन का मूलमंत्र है। यहाँ मृत्यु का संताप भी लयबद्ध रूप में मुखरित हुआ है। गगन गिल की अधिकांश कविताएं शब्दार्थ और भाषा की दुर्बोधता से परे ध्वनियों तथा अनुगूँजों को पैदा करती हैं जो एकबारगी से सिहरन पैदा करती हैं। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के जीवनानुभवों की रंग-बेरंग स्मृतियों को कवयित्री कविता में गूँथती है। प्रेम, मातृत्व तथा मृत्यु आदि का बोध उन्हें उम्र के विभिन्न पड़ावों पर सहन करना पड़ा है। संतानविहीन माताओं और मृत संतान की कारुणिक संताप किसी भी

मातृमना स्त्री के लिए असहनीय होता है। गगन की दर्जनों कविताओं में संतान की अनुपस्थिति में भोगा हुआ दुख व विषाद की सच्ची कहानी है जो कविता का रूपक बनकर उनके स्त्रीत्व को संबल देती है। उनकी कविताओं का भाग्यवादी, आशावादी अथवा मृत्यु के स्मरण या करुण स्वर आदि इसी विषाद का परिणाम है। गगन की कविता का मंथर रागमय विराग स्वर जो कि स्त्रीत्व की, उसके 'स्व' की पहचान है। यह स्त्री-जीवन का वह सच है जिसे पुरुष समाज बिल्कुल भी छू नहीं सकता। इसलिए उनकी कविता की भाषा, शिल्प, शब्द या वाक्य विन्यास, प्रेम, मातृत्व तथा मृत्यु संबंधी उनके राग को समझने के लिए एक पृथक काव्यदृष्टि की आवश्यकता जान पड़ती है। इसी बात को लक्ष्य करके गगन गिल की रचना-प्रक्रिया और काव्य-संवेदना पर आलोचक रेखा सेठी अपनी पुस्तक 'स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य' में लिखती हैं "देह, प्रेम और मातृत्व को लेकर उसके अनुभव नितांत निजी हैं। उन्हें समझकर ही स्त्री-कविता के मानक तैयार हो सकते हैं। गगन की कविता में वेदना का प्रसार उसके अनुभव-संसार में 'यथार्थ और फैंटेसी' के स्तर पर एक स्त्री द्वारा खुद को रचने की प्रक्रिया है जो पुरुष के लिए उबाऊ हो सकता है किन्तु स्त्री के जीवन का बहुत बड़ा सच है।"[79]

निम्नमध्यवर्गीय परिवार, समाज तथा उसकी पूरी रूमानियत को कविता के जरिए एक वृहद चित्र उकेरने वाली कवयित्री नीलेश रघुवंशी की कविता कभी निजता को सामाजिकता में बदलती है तो कभी धीमे स्वर में सामाजिकता को निजता में। निम्नमध्यवर्गीय तथा मध्यवर्गीय जनता की चेतना उनकी चेतना है। उनकी कविताओं की स्त्री उनके अपने आसपास की हैं, वे स्वयं भी आत्मकथात्मक स्वर में कह उठती है : "ओ मेरे सुख / आखिर इतनी दूर क्यों हो तुम / क्यों इतने अनजाने / छूने का साहस नहीं जुटा पाता कोई।"[80] निम्नमध्यवर्ग की फटेहाल ज़िंदगी की कहानियाँ, घर-गृहस्थी के बीच पढ़ते-लिखते सपने बुनते स्त्री, परिवार की चिंता आदि में भी जीवन में उल्लास और प्रेम के लौ जलाए रखना, अपनी जिजीविषा को, कर्मठता का मजबूत आधार प्रदान करना आदि नीलेश की काव्यागत पहचान है। अभाव में भावसम्पन्न रहने की

वृत्ति मध्यवर्गीय जीवन शैली की विशेषता है। इस भावसंपन्नता को घर-परिवार की आम स्त्रियाँ ही अपने लोकानुभवों तथा संचित ज्ञान से पूरा करती हैं। नीलेश की दृष्टि साधारण चीजों को, घटनाओं तथा अनुभवों को बिल्कुल उसी आमफहम भाषा में कविता का रूप देती है और यही उनकी विशिष्टता है। घर के पारिवारिक सदस्यों –भाई, पिता, माँ, बहन आदि पर केन्द्रित उनकी कविताएं आमजीवन की सरसता-नीरसता को ही दिखाती हैं। दूसरी ओर नौकरीशुदा, बेरोजगार युवा, श्रमरत किसान-मजदूर आदि के प्रति उनकी चिंता तथा समदृष्टि का भाव उनके कवित्व का दूसरा परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है जो सत्ता और देश में लोकतंत्र की घटती साख पर करारा प्रहार करता है। प्रेमाभिव्यक्ति के स्तर पर भी नीलेश की कविताएं सारी सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई हृदय के उच्चस्थल को स्पर्श करती हैं। 'तब भी', 'मुझे प्रेम चाहिए', 'उसका होना', 'बारिश', 'एक दिन' आदि दर्जनों कविताएं प्रेम की मीठी चुभन के साथ हृदय के भीतर उतरती हैं। अपने आम ज़िंदगी को काव्यात्मक रूप देकर उन्होंने जीवन मूल्य को सृजित किया है। समाज में फैली व प्रचलित स्त्री संबंधी दुराग्रहों पर कवयित्री का रुख स्पष्ट रूप से कविताओं में उभरकर आता है। 'नारी दुख की मारी, बेटी पराया धन है, भ्रूण हत्या' आदि सामाजिक क्रूरताओं पर वह बार-बार सवाल खड़ा करती है। स्त्री को —उसकी देह को पण्य वस्तु बनाने के खिलाफ वे लामबंद होती है। बाजार, उद्योग संस्कृति और ग्लैमर की दुनिया ने स्त्री को पुनः एक वस्तु के रूप में बदल दिया है। कवयित्री बाजारवाद की इन नीतियों का खुलकर प्रतिरोध करती है। उनकी दृष्टि स्त्री को मनुष्यत्व की गरिमा प्रदान करना है। 'सुन्दरियों', 'फेशियल', 'पहली रुलाई तक की डायरी (21 कविताएं), 'सोचना और होना', 'सम्बोधन' आदि कई कविताएं उस रहस्य को सहज शब्दों और सहज भावों के साथ शब्दबद्ध करती हैं। आधुनिक हिंदी कविता में पहली बार प्रसव, मातृत्व और अजन्मे शिशु का माँ के साथ संवाद, गर्भवती स्त्री के आंतरिक व बाह्य मनोवैज्ञानिक यात्रा को प्रामाणिकता से नीलेश ने रखा है। उनकी स्त्री-दृष्टि की पहचान केवल इन इक्कीस काव्यात्मक डायरी से ही की जा सकती है। दुनिया को, अपने समय तथा स्वयं को

चिड़िया की आँख से देखना और समझना चाहती है। अपने समय को, अपने युग को समझना एक रचनात्मक उपक्रम है इसके लिए दृष्टि की नवीनता अनिवार्य शर्त है "इस समय हमें चिड़िया की आँख नहीं देखना है बल्कि इस दुनिया, इस समय को चिड़िया की आँख से देखना है। ... ... ऐसा नहीं है कि सिर्फ दुनिया और समय को देखने के लिए ही चिड़िया की आँख चाहिए बल्कि खुद को देखेने, समझने, परखने के लिए भी चिड़िया की आँख चाहिए।"[81] जिस महनीय निष्ठा की कामना कवयित्री कविता से करती है उसके लिए ऐसे ही सूक्ष्म और महीन दृष्टि की आवश्यकता पड़ेगी।

स्त्री-कविता की परंपरा की दो महत्त्वपूर्ण कवयित्री सविता सिंह और अनीता वर्मा मुखर भावों-अनुभावों की कवयित्री हैं। मुखरता, भास्वरता एवं स्पष्टवादिता आदि की संज्ञा दोनों ही कवयित्रियों की केन्द्रीय विशेषता है। स्त्री की मनःस्थिति की दुरभिसंधियों को खोलना, पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना का प्रतिपक्ष तैयार करना तथा स्त्रीत्व की बुनियाद पर नयी स्त्री को निर्मित करना आदि सविता सिंह की कविताओं की कुछ प्रमुख विशिष्टता है। अब तक प्रकाशित तीनों ही संग्रह ('अपने जैसा जीवन', 'नींद थी और रात थी', 'स्वप्न समय') की कविताओं में कवयित्री ने स्त्री-पुरुष संबंधों की, स्त्री की सामाजिक अवस्थिति की और दुनियादारी की क्रियाओं का एक स्त्री पर पड़ने वाले प्रभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उनकी 'नयी स्त्री' ही उनकी नवीन दृष्टि का पर्याय है। अपनी कविताओं में आत्मचेतस कवयित्री स्त्री की प्रकृति को और प्रकृति में बसी स्त्रीत्व के अनुरागपूर्ण अभ्यांतरीकृत संबंध को दार्शनिक दृष्टि से परखती है। प्रकृति की आभा यहाँ कवयित्री की सहचरी की भांति साथ रहती है। 'अपने जैसा जीवन' संग्रह की अधिकांश कविताओं को इन्हीं दार्शनिक प्रकल्पों तथा नवीनता के रूप में देखे जाने की आवश्यकता है।

सविता सिंह स्त्री की आत्मा को देह में परवर्तित करने के पुरुषवादी षड्यंत्र की सैकड़ों नीतियों को जानती समझती हैं। स्त्री-मुक्ति की कामना और स्त्री-विमर्श की वैचारिकी में गहरी

आस्था रखने वाली 'सविता सिंह की कविताओं में प्रचलित 'नारीवाद' से अधिक प्रगतिशील अर्थों का वह 'नारीत्व' है जो दासता का घोर विरोधी है और स्त्री की मुक्ति का और भी गहरा पक्षधर है।'[82] अपनी पक्षधरता स्पष्ट करते हुए सविता अपनी कविताओं में स्त्री-जीवन के उन बिम्बों, रूपकों तथा घटनाक्रमों को छूती हैं जो प्रकृति ने सहजता से उसे दिए हैं। रात, नींद, सपने, प्रेम, जन्म-मृत्यु आदि प्रत्यय स्त्री-जीवन के वे पहलू हैं जिनसे स्त्री का गहरा लगाव होता है। इन्हीं पहरों में वो स्वयं को ढूंढती है, स्वयं को पाती है तथा यथार्थ रूपी संसार से विलग एक प्रतिसंसार को रचती है। रक्तबीज की तरह बढ़ रही पितृसत्ता की हजारों नीतियों को कवयित्री कविताओं में रच रही है। स्त्री वर्ग को सचेत करना व अपने को उत्पाद में बदलने से खुद को रोकना आदि स्त्री का ही दायित्व है। प्रेम व धन के अथवा फैशन के लुभावने जाल में फँसने से खुद को रोकना होगा। स्त्री, पुरुष से परे एक मुकम्मल इंसान बनना और बनाना ही सविता सिंह के काव्य-चिंतन का मूल लक्ष्य है। सामाजिक सांसारिक अनुभवों के आत्मविश्लेषण द्वारा कवयित्री अपनी दृष्टि को विकसित करती है। 'खून और खामोशी', 'शिल्पी ने कहा', 'देश के मानचित्र पर', 'मुश्ताक मियां की दौड़', 'जो कोई भी नेक इंसान कहेगा', 'अंत' आदि कविताओं में निहित क्रूर यथार्थ और राजनीतिक व्यवस्था के पतन की शिनाख्त होती दिखती है। इन कविताओं में अनुस्यूत भावुकता तथा तार्किकता कवयित्री की राजनीतिक दृष्टि की स्पष्ट घोषणा है। धार्मिक फूहड़ता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, नस्लभेद आदि सांप्रदायिक हिंसा में आहत होने वाले निर्दोष लोगों की कहानियाँ हमेशा दबी रह जाती है।

सविता सिंह की 'अँधेरे मेरे हिस्से के', 'परंपरा में', 'रात नींद सपने और स्त्री', 'मैं कथा कहूँगी', 'गरिमामय जीवन के लिए', 'जैसे एक स्त्री जानती है', 'मुझे वह स्त्री पसंद है', 'ईश्वर और स्त्री', 'उनके विलास के लिए' और 'स्वप्न के ये राग' आदि कविताएं स्त्री-दृष्टि की आधारभूमि को सिरजती हैं। अधिकांश स्त्री पात्र वायवीयता से दूर आकुल यथार्थ की अभिव्यक्ति करते नज़र आते हैं। अपने आत्म-अनात्म को पहचानते हुए वह घनीभूत पीड़ा में

जीवन-सौन्दर्य को ढूंढ लेती है और प्रत्येक चुनौती के लिए तैयार रहती है। हर एक आखेटक से आखेट के लिए तैयार रहती है : "अब न तीर चल सकेंगे / न रात होगी गहरी / एक दूधिया रोशनी में स्वप्न चलता रहेगा / भले चाँद देखता रहे मुझे एकटक / करता रहे अपनी कामना से मेरा शिकार / मैं उससे कहूँगी जैसे मैं कहूँगी हर आखेटक से / किन्हीं बियाबानों जंगलों में अब तक / मैं स्वयं काम हूँ स्वयं रति / अनश्वर स्त्री / संभव नहीं, मेरी मृत्यु।"[83] यह आत्मबोध, आत्म-अन्वेषन स्त्री-कविता की दिशा है। कवयित्री स्वयं ही नहीं बल्कि समाज-राष्ट्र के व्यापक फलक पर इस भावधारा को प्रसारित करती है। अनश्वर स्त्री का स्वत्वबोध ही स्त्री की जातीय संवेदना का विस्तार है। इस जातीय संवेदना की एक दूसरी पूरक इकाई हैं अनीता वर्मा की कविताएं जो अपनी सघनता, विरलता और ऐन्द्रिय बोध के लिए काफी चर्चा में रही हैं।

अनीता वर्मा स्त्री-कविता की परंपरा में उन कवियों में शुमार हैं जिन्होंने काव्यभाषा और काव्यवस्तु के साथ निरंतर मुठभेड़ किया है। उनका भाषाबोध निरंतर उनकी कविता के अंतर्वस्तु को प्रभावित करता रहा है। स्त्रीत्व का एक अलग भाष्य वे अपनी कविताओं में रूपकों, बिम्बों तथा प्रतीकों आदि के संयोजन से करती हैं। 'एक जन्म में सब' (2003) तथा 'रोशनी के रास्ते पर' (2008) दोनों ही संग्रह की कविताओं का वृतांत अनोखा है। अपने समय में बढ़ रहे धर्म और मानवीय आस्था का व्यापार देख, स्त्री-हिंसा के नित नए कारनामे, मनुष्य को भ्रमित करने वाला इतिहास आदि को कवयित्री प्रकृति की विभिन्न तरंगों द्वारा समझने-समझाने की कोशिश करती है। मनुष्य के यंत्र में बदलने की अकुलाहट जीवन को निर्द्वंद्व भाव से नष्ट करती है। 'दोष', 'तभी', 'अपनी तरह', 'झारखंड', 'मैं खोजती हूँ', 'देखते हुए', 'अपना पेड़' आदि कविताएं अनीता वर्मा की अंतरंग कोलाहल से बुने स्केच हैं जिनमें एक पूरे राष्ट्र की भीतरी खोखलेपन को स्त्री की दृष्टि से देखा गया है। प्रकृति और स्त्री का आपस में घनिष्ठता का भाव पौराणिक काल से है। कवयित्री स्वयं को प्रकृति की लीलाओं के माध्यम से ही व्यक्त करती है : "सोचती हूँ एक फूल को कैसे समझा जाये / क्या यह संभव है फूल में बदले बिना / कैसे महसूस किया

जाये उसकी पंखुरियों का झरना एक-एक कर / मैं अगर झरी हुई पत्तियों वाला एक पेड़ हो पाती / तो समझ पाती उसका लुटा हुआ वैभव / देखती ख़ुद अपनी वीरानी को।"[84] यह आग्रह की शक्ल में शांत प्रतिरोध है उस सत्ता के खिलाफ जो बार-बार दुनिया को हिंसा के रास्ते पर लाने को आमादा है ; यह प्रतिरोध उस पितृसत्ता के खिलाफ भी है जो आधी आबादी को उसके देह के पैमाने पर तोलता है। प्रकृति के साथ इस तादात्म्य भाव को रंजना जायसवाल की कविताओं में बखूबी देखा गया है। कवयित्री रंजना जायसवाल प्रकृति को स्त्री रूप में ही देखती हैं 'स्त्री है प्रकृति'। प्रकृति के साथ स्त्री के आत्मीय/रागात्मक संबंध को बयान करती उनकी कविताओं में पूरा प्रकृति जगत सजीव हो उठता है।

स्त्री-कविता की मुखर आवाज़ रंजना जायसवाल की कविताएं दो धाराओं में चलती हैं। एक धारा में वह प्रकृति और प्रेम के असंख्य मधुर भावनाओं को अभिव्यक्ति करती है तथा दूसरी धारा पितृसत्तात्मक संस्थाओं, मनुवादी संस्कारों तथा स्त्री के फैशनवाद की क्रूर नीतियों और यौन हिंसा आदि मुद्दों पर मुखरता से अपनी बात रखती है। 'मछलियाँ देखती हैं सपने (2002)', 'दुख पतंग (2007)', 'जिन्दगी के कागज़ पर (2009)', 'माया नहीं मनुष्य (2009)', 'जब मैं स्त्री हूँ (2009)', 'सिर्फ कागज़ पर नहीं (2012)' और 'क्रांति है प्रेम (2015)' आदि उनके काव्य-संग्रह हैं। अपने सक्रिय लेखन व साहित्य जगत में निरंतर वैचारिक भागीदारी उनकी पक्षधरता को मजबूत आधार देती है। स्त्री-दृष्टि जिसे हम प्रकृति-दृष्टि भी कह सकते हैं उसकी दरयाफ्त रंजना जायसवाल की एकमात्र कविता 'टरटल्स फ़्लाई फिल्म और स्त्री प्रश्न' करती हैं। बलात्कृता स्त्री के प्रति संवेदित हो एक जायज चिंता को स्त्री-समाज के बीच उठाती है : 'क्या बड़ी होती है जिन्दगी से देह?' या 'स्त्री मानती ही क्यों है ख़ुद को सिर्फ देह?' कवयित्री का मर्म जीवन सौंदर्य का मर्म है इसलिए एक नयी सोच को आत्मसात करने की आवश्यकता है।

स्त्री-कविता का दलित-आदिवासी स्वर व्यापक अर्थों में समकालीन स्त्री-लेखन का आधार स्तंभ है। सहानुभूति, स्वानुभूति तथा समानानुभूति के ही समानांतर आत्मकथात्मक स्वर आदि अनुभूति के सभी मानकों को काव्यात्मक रूप देते हुए इस स्वर ने स्त्री-कविता की नयी दिशा को आलोकित किया है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' आदि दलित स्त्री-कविता की प्रमुख हस्ताक्षर होने के साथ ही सामाजिक कार्यकर्ता और आंदोलनधर्मी भी हैं। आदिवासी स्त्री-कविता हिंदी कविता का नवीन संधान है। इस नवीन संधानकर्ता की कवयित्री हैं निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, वंदना टेटे आदि। एक अर्थ में ये सभी कवयित्रियाँ एक्टविस्ट कवि (Activist Poets) हैं। अपनी लेखनी द्वारा इन कवयित्रियों ने सत्ता एवं समाज की कुरूपताओं-विद्रूपताओं तथा हिंसा की भावनाओं को दिखाया है। जातीय दंश सामाजिक व्यवस्था में विष की तरह घुला हुआ है जो व्यक्ति को सिवाय हिंसा और नफरत के कुछ नहीं सिखाता है। दलित-आदिवासी स्त्री-कवियों ने अनुभूतित यथार्थ को कविता का रूप दिया है। एक वर्ग-विशेष का यथार्थ कैसे दूसरे वर्ग-विशेष के लिए बदल जाता है, वहाँ वह और अधिक कारुणिक हो जाता है, इसकी पड़ताल इन कवयित्रियों की कविताओं से गुजरकर ही की जा सकती है।

'पदचाप' और 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' संग्रह की अधिकांश कविताएं रजनी तिलक ने अपने समाज को एड्रेस कर लिखा है। जिस संवेदना, चेतना और प्रतिबद्धता का जीवन-संदेश उन्होंने दिया ; दलित समुदाय उन्हीं मूल्यों एवं संघर्ष चेतना को आगे बढ़ाए, यह उनकी कविताओं का मूल उद्देश्य है। पर्दे के पीछे लिख रही दलित महिला साहित्यकार को मुख्यधारा में लाने में उनकी भूमिका अग्रणी है। जिस वैचारिक आजादी की बात कविता, कहानी, आत्मकथा, लेख आदि में कवयित्री करती है वह सामूहिक प्रयत्न के बिना संभव नहीं है। अतः नयी पीढ़ी के लिए चुनौती बढ़ जाती है कि वह अपनी जातीय एवं सामाजिक समुत्थान की भावना को इस हिंसक काल में कैसे अग्रसारित करें। रजनी तिलक की कविताओं का केंद्र नयी पीढ़ी के युवा ही रहे हैं। हिंसामुक्त और समतामूलक समाज के निर्माण के लिए जरूरी है कि

ईर्ष्या व घृणा आदि का रास्ता न चुने : "तुम उठ खड़े हो जाओ तो / समाज के जंगल में / कांटे भी फूल बन जाएँगे / अंधेरी रात में जुगनू बन तैरोगे / तेज धार में किश्ती बन जाओगे / तुम ठहर कर मुस्कुरा लो / तनाव... कुंठा... अविश्वास फुर्र से उड़ जाएँगे / आत्मविश्वास... सृजन... दोस्ती साकार हो जाएंगी।"[85] इन्हीं नयी उमंगों से नयी पीढ़ी सांप्रदायिक भावनाओं को नेस्तनाबूत कर सकती है।

कविता की अलग धारा के साथ दलित कवयित्री सुशीला टाकभौरे की कविताएं अपने सरल-सहज भावों, जातीय एवं सामाजिक दंश के साथ उपस्थित होती हैं। दलितों में दलित स्त्री की नियति इस समाज में भी बदतर है। दलित समाज में भी पितृसत्ता व सामंतवादी क्रूरता का जहर भरा पड़ा है जिसे वे अपने घर की स्त्रियों पर शारीरिक-मानसिक हिंसा आदि के रूप में निकालते हैं। ऐसे 'आदिपुरुषों' को रजनी तिलक जैसी कवयित्री ने फटकारा है और सुशीला टाकभौरे ने उन्हें सचेत किया तथा चुनौती देती है। सुशीला टाकभौरे के अब तक चार काव्य-संग्रह –'स्वाति बूँद और खारे मोती (1993)', 'यह तुम भी जानो (1994)', 'तुमने उसे कब पहचाना (1995)' और 'हमारे हिस्से का सूरज (2005)' प्रकाशित हुए हैं। चारों ही संग्रह की कविताएं यथार्थ की भावभूमि पर लिखी गई हैं। आत्मकथात्मकता एवं संस्मरणात्मकता आदि सुशीला टाकभौरे की कविताओं की शिल्पगत विशेषता है। दलित समाज के उत्थान एवं स्त्री की हिस्सेदारी के लिए अंबेडकर के विचार को ग्रहण करना आवश्यक है। दलित समाज के क्रांतिकारी-समाजसुधारकों के रास्ते पर चलकर ही दलित समुदाय का समुचित विकास संभव है। दलित समुदाय का विकास पूरे समाज का विकास है। दलित समाज में कलम उठा रही स्त्रियों के ऊपर होने वाले हमले व दबाव को कवयित्री समझती है : "वह सोचती हैं - / लिखते समय कलम को झुका ले / बोलते समय बात को संभाल ले / और समझने के लिए / सबके दृष्टिकोण से देखें / क्योंकि वह एक स्त्री है।"[86] स्त्री जब इस पहरेदारी को तोड़ती है तो वह ज्वालामुखी की तरह धधकती हुई सारी बेड़ियों को तोड़ देती है ; अपने स्वाभिमान की रक्षा करती है।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं का फ़लक भले ही उनके वर्ग-विशेष तक सीमित हो लेकिन उनकी दृष्टि का विस्तार पूरी मानवता को समेटता है। उनके काव्य-चिंतन का स्रोत बुद्ध, कबीर, रैदास, फुले, अंबेडकर, अछूतानंद, पेरियार, अय्यनकारी आदि क्रांतिकारी-समाजसुधारकों की विचारधारा रही है। प्रेम, शृंगार से विमुख वह अपने वर्ग को शिक्षित सुसंस्कृत रूप में आगे बढ़ते देखना चाहती हैं। इस लिहाज से उनकी कविताएं क्रांतिधर्मी होने के साथ ही सामाजिक परिवर्तन की बयार को लेकर चलती हैं : "किसी दलित बुद्धिजीवी की / कलम से / जब भी कविता लिखी जाती है, / ऊबड़-खाबड़ पत्थरों के बीच / रसहीन सुखी नदी जैसी / फैली ज़िंदगी ही सिमटकर आ जाती है। / ... ... ओ चिंतक, जागरूक मानव! / कर्महीन-निराशा तो जीवन की हार है। / तू, सूरज न उगा सके, / कोई बात नहीं, / आशा का / एक दीप जला दो, / जन-मानस में / अपनी कलम से, उद्बोधन से / चेतना को जागा दो।"[87] नया इतिहास, नया सोच और नयी उम्मीद के साथ कवयित्री एक समतामूलक समाज का स्वप्न देखती है जिसे मूर्त रूप देना नयी पीढ़ी के हाथों में है। दृष्टि बदलकर दृष्टिकोण बदला जा सकता है। युग की चेतना पूरी मनुष्य जाति में नवीनीकरण का संचार कर सकती है। स्त्री-पुरुष संबंधों का उन्मेष भी तभी संभव है जब दोनों ही वर्ग चेतनागत स्तर पर एक-दूसरे के अस्तित्व और प्रकृति प्रदत्त सत्ता को स्वीकार करें।

स्त्री की चीत्कार को कवयित्री ने अलग ही शब्दों की धार से सामंतवादी पितृसत्ता को कठघरे में खड़ा किया है। पुरुष चाहे दलित हो या गैरदलित, उस पर पुरुषवाद हावी रहता है। संस्कार और परवरिश आदि के नाम पर आज भी समाज का एक बड़ा तबका स्त्री को कमजोर, कमतर, हीन समझने की भ्रामक शिक्षा स्त्री-पुरुष को देता है। 'जल प्लावन करना है', 'आज की खुद्दार औरत', 'मेरी स्थिति', 'औरत नहीं मजबूर', 'मासूम भोली लड़की', 'प्रशंसनीय नारी', 'तुमने उसे कब पहचाना', 'स्त्री', 'मील का पत्थर', 'नमूना' तथा 'विद्रोहिणी' आदि कविताएं स्त्री-चेतना से प्रकंपित कविताएं हैं जिनमें सैकड़ों सामाजिक प्रश्नों को उठाया गया है।

इन कविताओं को पढ़ते हुए युवा समीक्षक डॉ. योगश्वरी लिखती हैं : "स्त्री के संबंध में अनेक प्रश्न दिमाग को मथते हैं। जैसे विवाह के पश्चात धर्मपत्नी स्त्री ही क्यों होती है? कौमार्य स्त्री का ही क्यों भंग होता है? सौभाग्य चिन्ह स्त्री ही क्यों धारण करती हैं? विधवा का लेबल स्त्री पर ही क्यों लगाया जाता है? बंध्या स्त्री ही क्यों होती है? आदि-आदि इन प्रश्नों के उत्तर देना विशेषकर पुरुषों द्वारा बहुत ही कठिन है।"[88] स्त्री हो या पुरुष पूर्वाग्रहों के शिकार होकर इन यक्ष प्रश्नों का उत्तर देना सच में कठिन है। इन प्रश्नों का उत्तर स्त्री-दृष्टि की भावना में ही मिल सकता है।

रजत रानी 'मीनू' स्त्री-कविता की परंपरा में ईमानदार दृष्टि की कवयित्री हैं। 'पिता भी तो होते हैं माँ' की कविताओं में अभिव्यक्त उनकी संवेदनाएं निजी होते हुए भी सर्वग्राही बनती हैं। स्त्री-जीवन का मूल दर्शन भी यही है कि वह अपने से अधिक अपने परिजन-पुरजन के भरण-पोषण पर अपना सब कुछ न्योछावर कर दें। एक ईमानदार दृष्टि के साथ ही वह स्वीकार करती हैं कि "मैंने पापा की / आँखों में देखा / अपनी माँ का चेहरा / पापा माँ ही होते हैं, / ऐसा महसूसा / माँ गुजर जाती है / अक्षर सिखाते-सिखाते / और पापा ले लेते हैं / माँ की जगह - / जो दुख की भी है।"[89] पुरुष जब अपने भीतर पैठे स्त्रीत्व से परिचालित होता है तब वह मानवीय संवेदना से पूरित हो जाता है। स्त्री-पुरुष के साम्य-वैषम्य का दुराग्रह अनायास ही दूर हो जाता है। दलित स्त्री-कवियों ने एक क्रम से अपनी अधिकांश कविताएं अपने समाज, अपने समाज की युवा पीढ़ी को समर्पित किया है। कवयित्री रजत रानी 'मीनू' ने भी दर्जनों कविताओं में अपने समाज की नयी पीढ़ी को केंद्र में रखा है। स्त्री के प्रति उनकी दृष्टि और भी संवेदनशील हो उठती है क्योंकि वह दोहरे दबाव और यंत्रणा को झेलती है। दलित कविता व दलित साहित्य को नए मुहावरों से परिभाषित कर उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र के नए रूप को गढ़ने का प्रयत्न किया है। उस सौन्दर्य की आधारभूत संरचना दलित समाज में ही मौजूद है। दृष्टि बदलकर ही उस सौंदर्य भाव को, जिसे हम श्रम का सौंदर्य भी कह सकते हैं, जाना जा सकता है। अपनी काव्य संबंधी मान्यताओं की स्पष्ट घोषणा पुस्तक की भूमिका (सबब और सिलसिला) में करते हुए लिखती

हैं : "मैंने कविताओं का लेखन मात्र लिखने के लिए नहीं किया। मेरी चिंता में मेरा परिवार-मेरा समाज रहा है। इस सामाजिक व्यवस्था में दर्द से कराहते हुए दलित और स्त्री को देखा तो मेरी संवेदनाएं और भी गहरी होती गई। आंसुओं के रूप में ये कविताएं सृजित हुई।"[90] आंसुओं से सृजित इन कविताओं में आस, विश्वास और करुणा की शक्ल में प्रतिरोध की ज्वाला भी है जो हिंसा या प्रतिशोधकीलित न होकर हृदय परिवर्तन में विश्वास रखती हैं।

आदिवासी स्त्री-कविता की क्रांतिदूत कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताएं इंसानी जम्हूरियत की बुलंद आवाज़ हैं। एक तरफ जल-जंगल-जमीन की परवाह, सत्ता व्यवस्था और पुलिसिया तंत्र की निर्ममता आदि से लड़ाई और दूसरी तरफ आदिवासी अस्मिता पर हो रहे हमले के खिलाफ लामबंद होना, आदिवासी कविता की दोहरी-तिहरी चुनौती है। निर्मला पुतुल उन विरल कवियों में से एक हैं जो लेखन और व्यावहारिक जीवन दोनों ही स्थानों पर अपनी कलम और आवाज को बुलंद किए रहती हैं। सत्ता की दुर्नीतियों, विनाशक-आपराधिक कुकृत्यों और पूंजीवादी प्रलोभनों आदि की मुखालफत करते हुए उनके मंसूबों का पर्दाफाश करती हैं। निर्मला पुतुल स्पष्टवादी व मुखरता की धनी कवयित्री हैं। अपनी बातों, भावनाओं आदि को स्पष्टता से कहना उनकी आदिवासियत की पहचान है। इस अर्थ में उनकी कविताएं उनकी बातों, उनकी भावनाओं तथा उनके चिंतन का बयान है। एक साक्षात्कार में अपने काव्य-स्रोत को बताते हुए कवयित्री स्पष्ट रूप से अपने संघर्ष को बड़ा मानती हैं : "... मैंने कवि-कवयित्रियों को अत्यधिक पढ़ने के बजाय अपने संघर्षमय जीवन को जिया, देखा और इसी को अपना काव्य स्रोत बनाया और यही मेरी कविता है।"[91] आदिवासी साहित्य, संस्कृति एवं परंपरा का संरक्षण एवं उसके मूल भाष्य को लोगों तक पहुँचाना जरूरी है ताकि पूर्वाग्रहों को दूर किया जा सकें। आदिवासी समुदाय सामाजिक-सांस्कृतिक और पारंपरिक वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, सांस्कृतिक अनुष्ठान आदि कार्य-व्यापार अधिक प्राकृतिक और पर्यावरण के अनुकूल है ; तथाकथित मुख्यधारा वर्ग ने आदिवासी वर्ग के लिए जो छवि बनाई है, वह पूर्णतः मनगढ़ंत

और थोपी गई है। मूल पर्यावरण हितैषी होने के कारण उनकी जीवन शैली जरूर अलग है लेकिन किसी भी सूरत में वह अमानवीय, असभ्य अथवा अप्राकृतिक नहीं है। मनुष्यता की पूरी गरिमा के साथ वे भी जीवन बसर करते हैं। आदिवासी स्त्री-कविता इन्हीं बातों को कथा, कहानी व कविता के शिल्प में कहने व तथाकथित मुख्यधारा, सुशिक्षित वर्ग को इंसानियत का पाठ पढ़ाने का उपक्रम है। निर्मला पुतुल के शब्द इसलिए नगाड़े की ध्वनि के सदृश्य लगते हैं। उन शाब्दिक भावनात्मक ध्वनियों में आदिवासियों की पीड़ा भी है, सौंदर्य भी है, जिजीविषा की ललक और अंतिम सांस तक संघर्ष के मैदान में बने रहने का साहस भी है। 'उतनी ही जन्मेगी निर्मला पुतुल', 'मैं चाहती हूँ', 'मैं वो नहीं हूँ जो तुम समझते हो', 'खून को पानी कैसे लिख दूँ', 'क्या तुम जानते हो' आदि कविताएं क्रांति के गूंज और क्रूर सत्ता को चुनौती देती हुई अपने हक़ की बात कहती हैं।

'फिर एक बार / एक जबरदस्त जनी शिकार' की हुंकार के साथ ग्रेस कुजूर आदिवासी स्त्री-कविता के ओज को गुंजित करती है। आदिवासी खूनी खेल के दरिंदों, मध्यस्था करने वाले कारिंदों और भ्रष्ट-तंत्र के खिलाफ उनकी कलम आग उगलती है। आदिवासियत को बचाने की जद्दोजहद में वे पूरी निष्ठा के साथ वैचारिक लड़ाई निरंतर लड़ रही हैं। ग्रेस कुजूर एकमात्र कवयित्री हैं जो वैचारिक संघर्ष से आगे बढ़कर जल-जंगल-जमीन को बचाने के लिए हिंसात्मक संघर्ष के लिए भी तैयार हैं ; 'सिगनी दई' बनने को तैयार हैं। उनकी दृष्टि की साफ़गोई ही आदिवासी साहित्य-संस्कृति की विरासत है। 'एक और जनी-शिकार', 'आग', 'धार के विपरीत', 'प्रतीक्षा', 'गाँव की मिट्टी', 'रेशमी सपने', 'बिचौलियों के बीच', 'बौना संसार', 'मेरा आदम मुझे लौटा दो', 'कलम को तीर होने दो', 'अमन की संजीवनी', 'कलम मौसम बदलेगी' आदि कविताएं ग्रेस कुजूर की दृष्टि के क्रांतिधर्मी तेज को प्रसारित कर रही हैं। एक आदिवासी ही कलम को 'तीर' की संज्ञा देकर उसे अपना हथियार बनाने की कल्पना कर सकता है। उजड़ते गाँवों को देखकर कवयित्री का हृदय द्रवित हो उठता है। विकास की अंधी

और आदिवासियों के लिए विनाशक नीतियाँ उनकी आदिवासियत को तोड़ रही है। आदिवासी जगत की प्रखर चिंतक वंदना टेटे 'ग्रेस कुजूर' की कविताओं को व्यापक अर्थों में देखती हैं "ग्रेस कुजूर ने अपनी कविताओं में समाज, व्यवस्था और उससे उपजी विसंगतियों को कई कोने अँतरे को एक जेनुईन आदिवासी की निगाह से अपनी कविताओं में दर्ज किया है। इसलिए उनकी इन कविताओं को पढ़ना आदिवसियत की साझी परंपरा को आत्मसात करना भी है।"[92]

'सिगनी दई', 'एतवारिया उराइन', 'गाँव की काकी', 'माँ', 'हौवा' आदि ग्रेस कुजूर की कविताओं के स्त्री पात्र इतिहास और वर्तमान में प्रतिरोध के आइकॉन हैं। पितृसत्तात्मक सामाजिक पारंपरिक बंदिशों को तोड़कर वे आदिवासियत की ही नहीं, मनुष्यता के धर्म की भी रक्षा करती हैं। ये लोक स्मृतियाँ ही उनका इतिहास हैं। कलम से मौसम बदलने की आस और कलम को तीर बनाने का संकल्प प्रकारान्तर से वैचारिक परिवर्तन का संकल्प ही बनता है। उनकी कविताओं में बार-बार 'संगी' शब्द भी उनकी सर्वसमावेशी प्रकृति को ही दिखाता है। कवयित्री भलीभाँति जानती है कि आज़ादी और अधिकार की लड़ाई अकेले नहीं लड़ी जा सकती है ; सामूहिक प्रयत्नों से ही बदलाव की गुंजाइश बनेगी। वह अपने 'संगी' के साथ ही अपने हक़ की लड़ाई लड़ना चाहती है। संगी का आह्वान करते हुए वे कहती हैं "हे संगी! / तानो अपना तरकस / नहीं हुआ भोथरा अब तक / 'बिरसा आबा का तीर' / कस कर थामो / टहनी पर अटके हुए / सूरज के लाल गोढ़ा को / गला दो अपनी हथेलियों की / गर्मी से / और फैला दो झारखंड की फ़नगियों पर / भिनसारिया में उजास।"[93] यह उजास ही असल परिवर्तन की आस और विश्वास है। कवयित्री अपने मूल स्वरूप में अहिंसा प्रेमी है लेकिन अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु, आत्मरक्षा के लिए हिंसा का सहारा लेने से भी संकोच नहीं करती है।

वंदना टेटे समकालीन आदिवासी स्त्री-कविता की व्यवस्थापिका हैं। उन्होंने साहित्य समाज, राजनीति, सांगठनिक आदि प्रारूपों में सक्रिय भूमिका निभाई है और अब भी निभा रही हैं। एक एक्टिविस्ट कवयित्री की भांति संस्कृतिकर्मी की सभी जिम्मेदारियों को बख़ूबी निभाती

हैं। इसका प्रभाव उनकी कविताओं पर भी पड़ा है। 'वह उठेगी', 'तुम कौन हो', 'कब तक?', 'सीधी कैसे चलूँ', 'डोल जतरा', 'चलो बाबा', डुबो: के खिलाफ' आदि कविताएं आदिवासी समुदाय के आत्मसम्मान और आत्मनिष्ठा की कविताएं हैं। कवयित्री का सारा बल प्रकृति-धर्म को निभाने में है। प्रकृति का इतिहास कभी लिखा नहीं गया, वरना यह ज्ञात होता कि प्रकृति को प्रकृति बनाने में, इसे संरक्षित रखने में आदिवासियों का क्या योगदान है। वंदना टेटे के चिंतनपरक लेख और कविताएं आदिवासी वर्ग से प्रकृति के अंतर्संबंधों की मिसाल हैं। आदिवासी दर्शन और सौंदर्य दृष्टि पर प्रकृति-जगत के समस्त क्रिया-कलापों की छाप है। इंसानियत से बेदखल कर दिया गया स्त्री-वर्ग के प्रति कवयित्री का रुख पितृसत्ता के समक्ष कई सवाल खड़ा करता है। आखिर क्यों बार-बार स्त्री को इंसानी दर्जे से अलग कर पुरुष के हाथों का खिलौना बना दिया जाता है ; जिसे वह जब चाहे तोड़-मरोड़कर, जो चाहे बना लेता है। 'तुम कौन हो?' कविता में कवयित्री इसी पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त स्त्री-वर्ग से पूछती है : "तुम कौन हो? / शास्त्रों में बताई गई देवी? / नर द्वारा कल्पित रमणी? / या कर्तव्य और प्रेम का / लबादा ओढ़े माँ-बहन पत्नी?"[94] इन सबके अतिरिक्त रामायण की सीता, वैशाली की नगरवधू, घर-दफ़्तर कोठे आदि सभी स्थानों पर 'तुम' कुछ न कुछ हो सिवाय इंसान के। पुरुषवाद की खाँचों से जैसे ही 'तुम' निकलती हो रूपकुँवर की तरह जला दी जाती हो, सीता की तरह उपेक्षा का शिकार बनती हो। कवयित्री शास्त्रों, देवालयों, धर्मग्रंथों और संस्कृति के नरभक्षी रक्षकों के समक्ष आत्मसमर्पण करने वाली स्त्रियों से पूछती है : "इस एकतरफा फैसले की खिलाफत कब करोगी तुम? / कब तक बनती रहोगी रूपकुँवर? / कब तक मानती रहोगी / नगरवधू बनने का उनका फैसला? और संस्कृति की पाशविक भूख को / कब तक? आखिर कब तक देती रहोगी लहूलुहान जिस्म?"[95] कवयित्री का यह धिक्कार भाव स्त्री-वर्ग के लिए चेतावनी भी है और प्रेरणा भी। कवयित्री उदाहरणस्वरूप अपने ही समाज की स्त्री-शक्ति का उदाहरण देकर पूरे स्त्री कौम को यह बताना चाहती है कि अगर "तुम सीता अहल्या द्रोपदी और / रूपकुँवर हो तो /

सिनगी – कैली, फूलो – झानो, माकी / सोनी सोरी भी हो / इंसान हो तुम / बहुत कुछ होने के अतिरिक्त।"[96] यह ऐतिहासिक चेतना स्त्री-शक्ति के संधान के लिए अनिवार्य है। कवयित्री आदिवासी समाज के क्रांतिज्योति सिनगी-कैली, फूलो-झानो, माकी और सोनी सोरी जैसी महीयसी ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से स्त्री-वर्ग को संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। वह जानती है कि स्त्री जिजीविषा और प्रेम के लौ को अंत समय तक बनाए रखना चाहती है। इसके लिए आवश्यक है उनके समक्ष संघर्ष और क्रांति की जीती-जागती मिसाल हो। कवयित्री की इंसानियत को बचाए रखने की दृष्टि ही उनकी स्त्री-दृष्टि का पर्याय है।

उपरोक्त विश्लेषण स्त्री-कविता में निहित स्त्री-दृष्टि के वैविध्य को दर्शाता है। सार्वजनीनता, सार्वभौमिकता तथा साझा विकास के साथ मनुष्यता आदि के मूल्यों की वकालत करना, उसे बचाना ही स्त्री-दृष्टि का मूल लक्ष्य है। स्त्री के ऐतिहासिक-सामाजिक और राजनैतिक संदर्भ को लैंगिक पूर्वग्रहों से परिभाषित न कर उसे मनुष्यता के धरातल पर परिभाषित करना और पुरुषवादी श्रेष्ठताग्रंथि को त्यागकर स्त्री-पुरुष सह-संबंध को अधिक संवेदीकृत करना आदि स्त्री-कविता का अभिधेय है। भाषा के स्तर पर भी सभी स्त्री-कवियों ने बनी-बनाई भाषा की एकरसता और जकड़न को तोड़कर उसे स्वछंद रूप में प्रयोग किया है। मुहावरों, लोकोक्तियों, लोकगीतों का नवीन भाष्य स्त्री-कविता की निजी विशेषता है।

संदर्भ :

[1] मधुरेश (चतुर्थ संस्करण : 2004). *हिंदी कहानी का विकास*, इलाहाबाद : सुमित प्रकाशन, पृ.176

[2] शंभुनाथ (प्रथम संस्करण : 2019) (संपा.) *हिंदी साहित्य ज्ञानकोश-7*, कोलकाता : भारतीय भाषा परिषद, पृ. 3961

[3] अरविन्दाक्षन, ए. (संस्करण : 2018). *समकालीन हिंदी कविता*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 23

[4] श्रीवास्तव, परमामंद (पुनर्मुद्रण : 2016) (संपा.) *समकालीन हिंदी कविता*, नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 5

[5] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 80

[6] वही, पृ. 81

[7] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 169

[8] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 165

[9] अनामिका (पहला संस्करण : 2015). *टोकरी में दिगन्त थेरी गाथा : 2014*, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 52

[10] अनामिका (तीसरा संस्करण : 2019). *खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 43

[11] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 16

[12] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2009). *जब मैं स्त्री हूँ*, दिल्ली : नयी किताब, पृ. 59

[13] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 80

[14] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला-लेखन खंड-2,* नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 325

[15] वही, पृ. 189

[16] कात्यायनी (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2012). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं,* नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 46-47

[17] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 44

[18] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 33

[19] कात्यायनी (प्रथम पेपरबैकसंस्करण : 2012). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 19

[20] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 52

[21] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 13

[22] अनामिका (संस्करण-2011). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 10

[23] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण-2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 65

[24] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[25] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ,पृ. 24

[26] सेठी, रेखा (पहला संस्करण 2019). *स्त्री-कविता पहचान और द्वंद्व (पाठ और संवाद),* नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 48

[27] सिंह, सविता (दूसरी आवृत्ति : 2013). *अपने जैसा जीवन*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 40

[28] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2018). *अँधेरे में बुद्ध*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 15

[29] अनामिका (पहला संस्करण : 2015). *टोकरी में दिगन्त थेरी गाथा : 2014*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 28-29

[30] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2017). *खिड़की खुलने के बाद*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 46

[31] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : जून, 2018). *स्त्री है प्रकृति*, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 23

[32] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 93

[33] कात्यायनी (दूसरा संस्करण : जनवरी, 2008). *इस पौरुषपूर्ण समय में,* लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 122-123

[34] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[35] अनामिका (पहला संस्करण : 2019). *पानी को सब याद था,* नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 105 & 136

[36] सिंह, सविता (पहला संस्करण : 2013). *स्वप्न समय,* नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 107

[37] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खारे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 169

[38] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 92

[39] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला-लेखन खंड-2*, नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 317

[40] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 46

[41] अनामिका (संस्करण : 2011). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 14

[42] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 45

[43] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 42

[44] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 24-25

[45] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खारे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 33

[46] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 95

[47] गुप्ता, रमणिका (संस्करण : प्रथम, 2015) (संपा.) *आदिवासी समाज और साहित्य*, नयी दिल्ली : कल्याणी शिक्षा परिषद, पृ. 31

[48] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 9

[49] 'निर्मल', ज्योति प्रसाद मिश्र (संस्करण : 2018) (संपा.) *स्त्री-कवि-कौमुदी* प्रस्तुति बलवन्त कौर, दिल्ली : अनन्य प्रकाशन, पृ. 15

[50] शुक्ल, गिरिजदत्त, शुक्ल, ब्रजभूषण (प्रथम संस्करण : 2019) (संपा.) *हिन्दी काव्य की कोकिलाएं* भूमिका एवं प्रस्तुति गरिमा श्रीवास्तव, दिल्ली : अनन्य प्रकाशन, पृ. 7

[51] वही, पृ. 207-208

[52] वही, पृ. 169

[53] राजे, सुमन (पहला संस्करण : 2003). *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास,* नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 30

[54] अरविंदाक्षन, ए. (संस्करण : 2016). *कविता की संस्कृति*. इलाहाबाद : साहित्य भंडार, पृ. 88

[55] अनामिका, (संस्करण : 2011) (संपा.) *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, किताबघर प्रकाशन : नयी दिल्ली, फ्लैप से उद्धृत

[56] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संकरण : 2017). *खिड़की खुलने के बाद*, किताबघर प्रकाशन : नयी दिल्ली, फ्लैप से उद्धृत

[57] फेसबुक से आभार

[58] सुजाता (पहला संकरण : 2021). *आलोचना का स्त्री पक्ष*, राजकमल पेपरबैक्स : नयी दिल्ली, पृ. 276

[59] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016) (संपा.) *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं* , किताबघर प्रकाशन : नयी दिल्ली, पृ. 5-6

[60] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व*, राजकमल पेपरबैक्स : नयी दिल्ली, पृ. 9

[61] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[62] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी, 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 199

[63] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी, 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 197

[64] प्रसाद, गोबिंद (2012). अनभै साँचा, *समकालीन हिंदी कविता में स्त्री स्वर*, पृ-37

[65] प्रसाद, गोबिंद (2012). अनभै साँचा, *समकालीन हिंदी कविता में स्त्री स्वर*, पृ-37

[66] सविता सिंह, हिंदी साहित्य में स्त्री आलोचना: आरंभिक प्रयास (https://www.shabdankan.com/)

[67] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *मैं जब तक आयी बाहर*, वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली, फ्लैप से उद्धृत

[68] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2002). *मछलियाँ देखती हैं सपने*, वाराणसी : लोकायत प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[69] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, राजकमल प्रकाशन : नयी दिल्ली, फ्लैप से उद्धृत

[70] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, राजकमल प्रकाशन : नयी दिल्ली, फ्लैप से उद्धृत

[71] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*. नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, फ्लैप से उद्धृत

[72] अग्रवाल, रोहिणी (द्वितीय संस्करण : 2016). *साहित्य का स्त्री-स्वर*, इलाहाबाद : साहित्य भंडार, पृ. 7

[73] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2019). *देह की मुँडेर पर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 12

[74] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *जादू नहीं कविता*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 6

[75] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी, 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 195

[76] अनामिका (पहला संस्करण : 2012). *स्वाधीनता का स्त्री-पक्ष*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 157

[77] अनामिका (पहला संस्करण : 2019). *पानी को सब याद था*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 67

[78] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 103

[79] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 64

[80] रघुवंशी, नीलेश (पेपरबैक संस्करण : 2009). *घर निकासी*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 80

[81] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं* , नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 8

[82] सिंह, सविता (दूसरी आवृत्ति : 2013). *अपने जैसा जीवन*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[83] सिंह, सविता (प्रथम संस्करण : 2013). *स्वप्न समय*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 107

[84] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 60

[85] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 61

[86] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज्य प्रकशन, पृ. 31

[87] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज्य प्रकशन, पृ. 40-41

[88] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज्य प्रकशन, पृ. 12

[89] 'मीनू', राजत रानी (प्रथम संस्करण : 2015). *पिता भी तो होते हैं माँ*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 30

[90] मीनू', राजत रानी (प्रथम संस्करण : 2015). *पिता भी तो होते हैं माँ*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 13

[91] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 121

[92] टेटे, वंदना (संपा.) (पहला संस्करण : 2019) *कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताएं*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 58

[93] टेटे, वंदना (संपा.) (पहला संस्करण : 2019) *कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताएं*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 63

[94] वही, पृ. 238

[95] वही, पृ. 239

[96] वही, पृ. 239